सूची

१ कला और कलाकार

भारतीय मत के अनुसार काव्य, कला के अन्तर्गत नहीं है। भारतीय लक्षणकारों ने चित्रकला आदि को अत्यन्त निकृष्ट स्थान दिया है और 'कलामात्रत्वात्' कह कर उस की हेयता को प्रदर्शित किया है। संगीत और नृत्य को उतना निकृष्ट नहीं माना है यद्यपि उन को भी काव्य (नाटक) का अंग मान कर गौण ठहरा दिया। भारतीय मत के अनुसार रस की उत्पत्ति में ही विशेषतया काव्यत्व है और संगीत आदि उच्चतम स्थान को इसी लिए नहीं प्राप्त कर सकते क्यों कि वे स्वयं रस की उत्पत्ति करने में असमर्थ हैं।

पाश्चात्य मत भी काव्य को सर्वोच्च स्थान देता है। किन्तु काव्य उन के यहाँ ललित कला के अन्तर्गत ही है जिसे मानने में भारतीय मत संकोच करता है। वस्तुत. भारतीयों ने काव्य को ललित कला के रूप में देखने की कल्पना भी नहीं की। पाश्चात्यों के अनुसार भी यदि देखा जाय तो उन का कलात्व से वह तात्पर्य नहीं है जो हम साधारणतया समझते हैं। बारीक दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि काव्य के लक्षण का निरूपण करने में हम में और उन में अधिक मतभेद नहीं है। वरन् पाश्चात्यों का वर्गीकरण हमें इस विषय को समझने में कुछ सीमा तक अधिक सहायता देता है।

ललित कला है क्या ? और इस को उत्पत्ति क्यों हुई ? काव्य आदि का लक्षण करने के पहले इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है। वस्तुतः कला मानवता की क्रिया है जिस का विषय स्वयं मानव है न कि वह स्वरूपात्मक कलावस्तु

जिस से अनुभव उद्दीपित होते हैं, जैसा कि प्रायः लोग समझते हैं। कला का विषय अनुभव का प्रकार है—अनुभव का उद्दीपन तो उस का लक्ष्य है। कला, वस्तुओं के अन्तरतम भावों को ग्रहण कर के प्रकाशित करती है और इस क्रिया में विषयीगत अनुभूति[1] को ठोस रूप दे देती है। तब कला-वस्तु की मस्तिष्क से पृथक् विषयात्मक सत्ता हो जाती है। यों तो मानव-अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ क्षणिक होती हैं किन्तु कला वस्तु में उन का निवास हो जाने पर वे चिरस्थायी हो जाती हैं। कलावस्तु की रचना हो जाने से कलाकार की मूलवस्तु[2] के विषय की अनुभूति अन्त तक जीवित रहती है चाहे वह वस्तु स्वयं नष्ट हो गयी हो।

बहुधा कहा जाता है कि कला की रचना केवल कला के लिए है अथवा काव्य केवल लिखने के लिए होता है[3] किन्तु यह एक बड़ी भारी भूल है। कला की रचना अपनी तीव्र अनुभूतियों को चिरस्थायी बनाने के लिए ही होती है। कलाकार अनुभूतियों की अस्थायी सत्ता से सन्तुष्ट नहीं रह सकता तभी वह कला की सृष्टि करता है। यह दूसरी बात है कि वह इस कला की कृति में किसी आदर्श को प्रतिष्ठित करने का भी ध्यान रख ले। आजीविका कमाने अथवा धन पैदा करने का भी कला को साधन बनाया जाता है। किन्तु

---

१ वह अनुभूति जो विषयी (अनुभव करने वाले कलाकार) को प्राप्त हुई हो।

२ वह सांसारिक वस्तु जिसे देख कर या सुन कर कलाकार में अनुभूति उत्पन्न हुई।

3—"Art for art's sake and writing for writing's sake"

यह स्पष्ट है कलाकार में अनुभूति की तीव्रता यदि नहीं है, यदि वह अपनी भावनाओं को स्थाई रूप में देखने की प्रवृत्ति धारण नहीं करता तो उस की कृति कला के हेतु उपयुक्त वस्तु नहीं हो सकती। उस रचना से कलाकार अपने सामाजिक में भी किसी अनुभूति की उत्पत्ति नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक उस की आलंकारिक शैली से प्रभावित होकर वे कलाकार को उसी चमत्कार-भरी दृष्टि से देखेंगे जिससे वे एक मदारी को देख सकते हैं। इसका उदाहरण हमें संस्कृत के 'राघव पाण्डवीयम्' आदि काव्यों में मिलता है जहाँ एक अन्वय को ले कर तो रामायण की कथा है तथा दूसरे से महाभारत की। श्लोक को उल्टा पढ़ें तब भी वह अपना रूप नहीं बदलता। इसमें चमत्कार है किन्तु काव्य नहीं। कला की कृति के लिए मूलतः यह आवश्यक है कि कलाकार की भावनाएँ अत्यन्त तीव्र हों—इतनी कि बिना उनको जीवित रक्खे कलाकार अपने जीवन को मृत्यु समझे।

मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह स्वयं विचारात्मक चैतन्य होने के कारण अपने को कल्पना और विचार के सामने रख कर मन और आत्मा के सम्बन्ध में भी जानना चाहता है। हृदय में किस प्रकार विचार उठते हैं, चेतनता क्या है, विचारात्मकता क्या है, ये सब प्रश्न हैं जिन के द्वारा मनुष्य अपने रूप को निर्धारित करना चाहता है। बस, इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए कला की उत्पत्ति हुई। इसके साथ ही मनुष्य अपनी स्थिति का प्रभाव अपने से इतर अर्थात् बाह्य जगत् पर डालना चाहता है और इस अपने किए हुए प्रभाव द्वारा जगत् में अपनी सत्ता को निश्चित करना चाहता है, प्रमेय (ऑब्जेक्टिव) वस्तु में अपनी सत्ता को डाल कर अपनी वास्तविकता का

पहचानना चाहता है। इन बाह्य वस्तुओं पर वह जो प्रभाव डाल देता है, उन में जो परिवर्तन कर देता है, उन पर अपने आन्तरिक जीवन की जो मुहर लगा देना है उसमें स्वयं को पारिभाषिक रूप में ज्ञात करने की उसकी प्रबल आकांक्षा होती है। बच्चा कटोरे में गिलास रखता है फिर गिलास के ऊपर कटोरा रख कर उसकी ओर एक टक देखता है। पानी में पत्थर फेंकता है और अपने किये हुए में अपनी सत्ता को, अपनेपन को देखता है और सन्तोष प्राप्त करता है। पानी में बढ़ती हुई गोल तरंगों को अपनी कृति जान कर आनन्द प्राप्त करता है। इसी प्रकार अपने अनुभव ही बाह्य जगत् में डाल कर मनुष्य अपनी सत्ता को जमाये रखना चाहता है। अतएव कला की रचना का कारण मनुष्य की वह सहज इच्छा है जो कि प्रकृति में अपने आत्मिक अनुभव को ठोस रूप में देखना चाहती है। किन्तु यह इच्छा स्थाई रूप में रहते हुए भी कला की रचना कभी-कभी ही करती है, और ये क्षण वे ही है जब कि मनुष्य की भावनाएँ इतनी तीव्र होती हैं कि उन को बिना विषयात्मक रूप दिये उस से रहा नहीं जाता।

कला की सृष्टि करना जीवन की सृष्टि करने के समान है। मूल रूप में वर्तमान इच्छा गहरी अनुभूतियों से भोजन पा कर ही कला की रचना कर सकती है। यों तो यह इच्छा सहज होने के कारण सदा ही मनुष्य के अन्दर वर्तमान रहती है तथापि कला की रचना के हेतु अनुकूल समय की आवश्यकता होती है और वह तब आता है जब इच्छा तीव्र हो कर कला की उत्पत्ति के लिए विह्वल हो जाय। कलाकार अपनी अनुभूति का प्रसार करता है, इस के बिना वह रह नहीं सकता, चुप रहना उस के लिए आत्मघात है।

साधारण जीवन में हम वस्तुओं को देखते हैं और जैसा-तैसा अनुभव भी प्राप्त करते हैं। किन्तु कभी-कभी प्रकृति के ऐसे चित्र सामने आते हैं कि अनुभूति साधारण सीमा का उल्लंघन कर जाती है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य एक नये जीवन का आभास पाता है। इसी अवसर पर वह जीवन में गहराई और पूर्णता देखता है। जीवन का आवश्यक अंग काल और देश है। इस गहराई और पूर्णता को सक्षम रखने के लिए देश और काल पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। वह समय और स्थान अवश्य बीतेंगे और दूर हो पावेंगे। अतएव उस क्षण के मूल्य को समझ कर कलाकार उसे अनन्त और सर्वदेश-साधारण बनाना चाहता है। इसी कारण एक अनन्त वस्तु को बनाने की आवश्यकता है, जो जहाँतक हो सके उस के जीवन में, अथवा उसकी मृत्यु के बाद भी उस में तथा और लोगों में अनुभूति उत्पन्न कर सके। यहीं पर मनुष्य की प्रकृति के ऊपर विजय है। इस प्रकार कला की कृति एक संकेत है जो दूसरों की भी उस अनुभूति को जगा सके जिसे ले कर कलाकार ने कला की रचना की थी।

ललित कलाएँ किसी व्यक्ति अथवा समाज की आन्तरिक शक्ति के प्रदर्शन हैं जो विभिन्न परिस्थितियों में पड़ने के कारण विभिन्न रूप धारण कर गयीं। कला जीवन का सार ही है। उस में निरन्तर जीवित रहने की तथा अधिक प्रसार ढूँढने की मूल प्रवृत्ति निहित रहती है। कला के मूल की प्रवृत्ति तथा काम-प्रवृत्ति एक ही वस्तु हैं। कला प्रवृत्ति का प्रसार भी दोहरा होता है—आत्म-प्रसार अथवा आत्म-रक्षा तथा आत्मोत्पत्ति।[1]

1—Self preservation and Self reproduction.

कहा—"यह एक आन्तरिक स्वभाव है जो जाति-विशेष की किसी वस्तु को देख कर इन्द्रियों की उस के अन्दर किसी विशेष मनोभाव-सम्बन्धी उत्तेजना की प्रतीति तथा उस वस्तु के प्रति विशेष व्यापार रूप-क्रिया नियत कर देता है।" १ कलाकार की कलात्मक इच्छा भी वाह्य जगत से इष्ट अनुभूतियों की उत्तेजना ले कर नये जगत की सृष्टि करती है। जब कलाकार अपनी अनुभूति के विषय को देखता है तो उस की प्रतीति उस विषय का ज्ञान मात्र नहीं होती अपितु एक भावनात्मक प्रतीति—एक मनोवेग जिस की उत्पत्ति अवश्य ही उस वस्तु से हुई थी। यह मनोवेग जिसे हम अनुभूति की तीव्रता भी कह सकते हैं (यद्यपि दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध होने से अन्तर है) कलाकार के अन्दर उस इच्छा को उत्पन्न कर देती है जो कलावस्तु को स्थायी रूप में देखना चाहती है। ऐसे अवसर पर वस्तु में एक नये गुण का आविर्भाव हो जाता है और वह है उस का भावना विषयक गुण—वह गुण जो स्वयं वस्तु में तो नहीं रहता किन्तु कलाकार के मन से सम्बद्ध होने का कारण जिसका वस्तु में आरोप हो जाता है। तब यह वस्तु कलाकार के अन्दर गहरी संवेदनात्मक अनुभूति को उत्तेजित करने वाला प्रमेय रूप-साधन है।

1—"An instinct is innate disposition which determines the organism to perceive (to pay attention to) any object of a certain class and to exprience in its presence a certain emotional excitement and an empulse to action which finds expression in certain mode of behaviour with regard to that object.

यह भी सत्य नहीं है कि साधारण अनुभव कला की कृति में कुछ काम नहीं देते। कलाकार प्रतिदिन अपने जीवन में अनुभव करता रहता है किन्तु ये प्रतिदिन के अनुभव इतने गम्भीर और मर्मस्पर्शी नहीं होते कि कलाकार को सृजन करने के लिए एकदम उत्तेजित कर दें। किन्तु बाद में किसी तीव्रतर भावना के उद्दीप्त हो जाने पर पूर्व के ये अनुभव भी सहायक हो कर कला वस्तु के अन्दर बद्ध हो जाते हैं। अतएव यह कहना युक्ति-संगत ही है कि कलाकार का जीवन ही कला के रूप को निर्धारित करता है। इसी प्रकार वर्तमान चित्र तथा स्मृत चित्र दोनों ही का हृदय के ऊपर समान प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि कलाकार प्रत्यक्ष वस्तु से प्रभावित नहीं हुआ है किन्तु बाद में उसी की स्मृति होने पर उस के अन्दर गहरी संवेदनात्मक अनुभूति का प्रकाश हुआ जो स्वयं कला कृति का कारण हो गयी। इस का कारण चाहे प्रथम अवसर पर कलाकार में ऐन्द्रिय-ग्राह्कता का अभाव रहा हो अथवा सहृदयता का। इसी तरह एक दृश्य (वस्तु) दूसरे दृश्य के भावनात्मक गुणों से सदैव सहायता लेता रहता है। दृश्य तथा उस के भावनात्मक गुण सदैव सम्बद्ध रहते हैं। यदि किसी दूसरी वस्तु से ऐसा भावनात्मक गुण व्यंजित होता है जो पहले कभी हुआ था तो दूसरी वस्तु का दर्शन उस विशिष्ट भावनात्मक गुण से सम्बद्ध प्रथम वस्तु को भी स्मृति-पटल पर ले आवेगा।

वस्तु के गुण के अतिरिक्त कलाकार के अन्दर भी विशेषताएँ होनी चाहिएँ। उस में वस्तुओं की स्पष्ट ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक प्रतीति करने की शक्ति होनी चाहिए जो वस्तु के भावनात्मक गुण को आत्मा तक पहुँचा दे। परन्तु इस के साथ ही उस भावनात्मक गुण को निरन्तर जीवित रखने के लिये

"कला की प्रवृत्ति तथा काम की प्रवृत्ति दोनों एक ही प्रवृत्ति के दो भेद नहीं हैं जो एक अवस्था में सबाध तथा दूसरी में स्वतन्त्र हो। किन्तु इन की मूल शक्ति जहाँ से दोनों की उत्पत्ति होती है, कुछ सीमा तक एक ओर से दूसरी ओर भेजी जा सकती है। किसी व्यक्ति-विशेष में निश्चित ही प्राण-शक्ति होती है। *यह यद्यपि किसी व्यक्ति* के पास दूसरे से अधिक सम्भावित की जा सकती है फिर भी एक ही व्यक्ति में वह यदि 'अ' दिशा में बढ़ायी जायगी तो निश्चित ही 'ब' की ओर कम जावेगी।"[१]

इस प्रकार कला के मूल मे जो प्रवृत्ति है वह भी उस प्राण-शक्ति का रूपान्तर है जिस का काम-वृति भी रूपान्तर है। फ्रायड की काम के ऊर्ध्वप्रसार (सेक्स सब्लीमेशन) के विषय वाली धारणा का भी यही मन्तव्य है। उस के अनुसार भी काम प्रवृत्ति अन्य प्रवृत्तियों से भिन्न नहीं है। वही प्राण-शक्ति भिन्न-भिन्न प्रणालियों मे प्रवाह पा कर भिन्न रूप दीखती हैं, *अन्यथा हैं सब मूलतः एक ही।* इसी लिए तो काम-शक्ति को कला-रचना की शक्ति में अथवा अन्य किसी क्रिया-शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। इस का प्रमाण हमें और मिलता है जब हम देखते हैं कि यदि अधिक अवस्था तक कला रचना की इच्छा प्रकट नहीं होती तो लगभग उसी अनुपात से काम की इच्छा भी देर में प्रकट होती है। संसार के बड़े-बड़े कलाकार और महान् व्यक्ति सबसे अधिक कामुक रहे हैं। नपोलियन की वीरता के साथ उस की *कामुकता भी* प्रसिद्ध है, जिस ने एक सप्ताह से अधिक किसी एक सुन्दरी से प्रेम ही नहीं किया। हिन्दी के भक्त कवि भी पहले अत्यन्त

1—*A Mackenzie—Process of Literature.*

कामुक थे। अपनी काम शक्ति ही को उन्होंने काव्य की तथा भक्ति की ओर बहा कर वहाँ प्रगाढ़ता पायी।

"कला-रचना की इच्छा को हम काम शक्ति की बीमारी तो नहीं कह सकते किन्तु यह मानने के लिए यथेष्ट कारण हैं, चाहे युक्ति न हो, कि यह व्यक्तित्व की बीमारी है। वास्तव में यह सदैव असाधारण प्रवृत्ति समझी गयी है और है भी यह एक सौम्य पागलपन--सौम्य भले ही हो पर है तो पागल पन ही--जीवन की साधारण प्रगति से भिन्न १।" कला-रचना की शक्ति अथवा अन्य किसी बड़े काम को करने की शक्ति आवश्यकता से अधिक प्राणशक्ति का परिचायक है। प्राण शक्ति का व्यय होना आवश्यक है। यदि जीवन की साधारण घटनाओं में पूरी प्राणशक्ति का व्यय नहीं किया जा सकता तो यह आवश्यक है कि वह अपना प्रसार स्वयं ढूँढेगी। अनुभवों की तीव्रता और सौन्दर्य की अभिलाषा उस प्राणशक्ति को कलाकृति की ओर लगा देगी। प्राणशक्ति की यह असाधारणता किसी में होती है और किसी में नहीं। क्यों ? इस का उत्तर हम यही दे सकते हैं कि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार रहती है किन्तु स्वाभाविक प्रवृत्तियों ही में अन्तर क्यों होता है ? विशेषज्ञ अधिक स अधिक शरीर क अवयवों की विशेष स्थिति अथवा इसी प्रकार के अन्य अन्तरों को कारण बता देंगे किन्तु इस भिन्नता के लिए युक्ति नहीं दी जा सकती। भारतीयों ने इसी को न समझ पाने के कारण उसे परमात्मा की लीला के अन्तर्गत कर दिया।

अस्तु, कला को उत्पन्न करने की इच्छा भी एक मूल प्रवृत्ति (इन्सटिंक्ट) है। मूल प्रवृत्ति के विषय में प्रो० मैकड्गल ने

1—Process of Literature—A Mackenzie.

कहा—"यह एक आन्तरिक स्वभाव है जो जाति-विशेष की किसी वस्तु को देख कर इन्द्रियों की उस के अन्दर किसी विशेष मनोभाव-सम्बन्धी उत्तेजना की प्रतीति तथा उस वस्तु के प्रति विशेष व्यापार रूप-क्रिया नियत कर देता है।" १ कलाकार की कलात्मक इच्छा भी बाह्य जगत से इष्ट अनुभूतियों की उत्तेजना ले कर नये जगत की सृष्टि करती है। जब कलाकार अपनी अनुभूति के विषय को देखता है तो उस की प्रतीति उस विषय का ज्ञान मात्र नहीं होती अपितु एक भावनात्मक प्रतीति—एक मनोवेग जिस की उत्पत्ति अवश्य ही उस वस्तु से हुई थी। यह मनोवेग जिसे हम अनुभूति की तीव्रता भी कह सकते हैं (यद्यपि दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध होने से अन्तर है) कलाकार के अन्दर उस इच्छा को उत्पन्न कर देती है जो कलावस्तु को स्थायी रूप में देखना चाहती है। ऐसे अवसर पर वस्तु में एक नये गुण का आविर्भाव हो जाता है और वह है उस का भावना विषयक गुण—वह गुण जो स्वयं वस्तु में तो नहीं रहता किन्तु कलाकार के मन से सम्बद्ध होने का कारण जिसका वस्तु में आरोप हो जाता है। तब यह वस्तु कलाकार के अन्दर गहरी संवेदनात्मक अनुभूति को उत्तेजित करने वाला प्रमेय रूप-साधन है।

1—"An instinct is innate disposition which determines the organism to perceive (to pay attention to) any object of a certain class and to exprience in its presence a certain emotional excitement and an empulse to action which finds expression in certain mode of behaviour with regard to that object.

यह भी सत्य नहीं है कि साधारण अनुभव कला की कृति में कुछ काम नहीं देते। कलाकार प्रतिदिन अपने जीवन में अनुभव करता रहता है किन्तु ये प्रतिदिन के अनुभव इतने गम्भीर और मर्मस्पर्शी नहीं होते कि कलाकार को सृजन करने के लिए एकदम उत्तेजित कर दें। किन्तु बाद में किसी तीव्र तर भावना के उद्दीप्त हो जाने पर पूर्व के ये अनुभव भी सहायक हो कर कला वस्तु के अन्दर बद्ध हो जाते हैं। अतएव यह कहना युक्ति-संगत ही है कि कलाकार का जीवन ही कला के रूप को निर्धारित करता है। इसी प्रकार वर्तमान चित्र तथा स्मृत चित्र दोनों ही का हृदय के ऊपर समान प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि कलाकार प्रत्यक्ष वस्तु से प्रभावित नहीं हुआ है किन्तु बाद में उसी की स्मृति होने पर उस के अन्दर गहरी संवेदनात्मक अनुभूति का प्रकाश हुआ जो स्वयं कला कृति का कारण हो गयी। इस का कारण चाहे प्रथम अवसर पर कलाकार में ऐन्द्रिय-ग्राहकता का अभाव रहा हो अथवा सहृदयता का। इसी तरह एक दृश्य (वस्तु) दूसरे दृश्य के भावनात्मक गुणों से सदैव सहायता लेता रहता है। दृश्य तथा उस के भावनात्मक गुण सदैव सम्बद्ध रहते हैं। यदि किसी दूसरी वस्तु से ऐसा भावनात्मक गुण व्यंजित होता है जो पहले कभी हुआ था तो दूसरी वस्तु का दर्शन उस विशिष्ट भावनात्मक गुण से सम्बद्ध प्रथम वस्तु को भी स्मृति-पटल पर ले आवेगा।

वस्तु के गुण के अतिरिक्त कलाकार के अन्दर भी विशेषताएँ होनी चाहिएँ। उस में वस्तुओं की स्पष्ट ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक प्रतीति करने की शक्ति होनी चाहिए जो वस्तु के भावनात्मक गुण को आत्मा तक पहुँचा दे। परन्तु इस के साथ ही उस भावनात्मक गुण को निरन्तर जीवित रखने के लिये

कलात्मक शरीर देना भी आवश्यक है। मनुष्य को भी जीवित रहने के लिए देह की आवश्यकता पड़ती है।

कलाकार होने के लिए मनुष्य के अन्दर दो गुणों की विशेष आवश्यकता है—एक तो पदार्थों के वर्तमान भावनात्मक सत्ता के प्रति वह, शक्तिपूर्ण तथा वेगपूर्ण क्रिया कर सके और दूसरे अपनी भावात्मक अनुभूति को अपने से पृथक् करके स्वतन्त्र सत्ता दे सके। कलाकार की प्रतीति-शक्ति साधारण प्रतीति-शक्ति से उच्चतर कोटि की होनी चाहिए। उस को. जो प्रदर्शित किया जा रहा है उस से भी अधिक ग्रहण करना चाहिए। इस का अर्थ यह है कि वह अपने पूर्व-संचित अनुभवों का विवेचन कर के केवल सम्बद्ध अनुभवों के साथ वर्तमान की प्रतीति करे। यही कलाकार की प्रतिभा कहलाती है। कलाकार के सचेष्ट तथा निश्चेष्ट तथा मस्तिष्क के अन्दर अनुभूति की शक्ति का सदैव जागृत रहना आवश्यक है जिस के द्वारा वह वर्तमान तथा स्मृत चित्रों में सम्बन्ध स्थापित कर सब को एक ही अनुभूति का प्रेरक ठहरा ले। अथवा यों कहिए कि कलाकार के अन्दर सहप्रतीति की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। प्रत्यक्ष स्थापित चित्र की प्रतीति के साथ पूर्व-अनुभूति चित्रों की प्रतीति भी आनी चाहिए।

यदि हमारे अन्दर किसी वस्तु के प्रति विशेष रुचि हो तो उस के विषय की सहप्रतीति की साधारण शक्ति हम में स्वयं ही स्फुरित होने लगती है। संसार की सभी वस्तुओं को इसी लिए हम अपनी विचार-धारा के अनुकूल मोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

अस्तु कलाकार वह मनुष्य है जो अपनी मानसिक तथा ऐन्द्रिय रचना-विशेष के कारण मानव-अनुभूतियों में विशेष

रुचि रखता है। कलाकार और विशेष कर साहित्य कलाकार क लिए यह आवश्यक है कि चैतन्य क गुणों के प्रति वह त व्र कल्पनात्मक संवेदना धारण करे। यदि इस कल्पनात्मक संवेदना की आवश्यकता न मानी जाय तो अपने प्राकृत रूप में वस्तु प्रत्येक मनुष्य क लिए एक ही अनुभूति का साधन हो जायगी और इस प्रकार कलात्मक कृतियों का कोई प्रयोजन ही न रह जायगा, अतएव कलाकार के लिए इस शक्ति (कल्पनात्मक संवेदना) का धारण करना विशेष आवश्यक है। तभी तो वह उन मूल प्रवृत्तियों की प्रक्रिया को समझ सकता है जिन पर मानव जावन वस्तुतः निर्भर है। क्रियात्मक मूल प्रवृति क अनुभव क विषय में सचेष्टता का नाम ही मनावेग है और इसी कारण काव्य को मनोवेगों का शाब्दिक रूप कहा है।

किन्तु मनोवेग के नाम ही स घबड़ा नहीं जाना चाहिए। कुछ दार्शनिक तथा बुद्धि प्रधान विद्वान् मनावेगों को अत्यन्त हेय दृष्टि स देखते थे और इसी प्रकार मूलप्रवृतियों को भी अत्यन्त गौण स्थान देते थे। 'वर्तमान मनाविज्ञान युक्ति और मूलप्रवृति में सामजस्य लाने का प्रयत्न कर रहा है।'[1] युक्ति और मनावेगों की सम प्रधानता हमें मनावेगों की प्रधानता सूचित कराती है। अब मनावेग अनादर की दृष्टि स नहीं देखे जाते ह। अब तो मूल प्रवृत्तियों की प्रगति में दुर्बलता का अर्थ है शक्तिहीनता। "जहाँ शक्ति होगी वहाँ मनोवेगों का होना आवश्यक है।" अतएव यदि यह कहा जाय कि कलाकार वस्तुओं की मनोवेगमय प्रयोजनता से तात्पर्य रखता है तो इस का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि वह मानव जीवन

---

१ फ्रायड का सेक्स सब्लिमेशन' का सिद्धान्त इसका प्रमाण है।

में एक क्षुद्र अंश का अध्ययन कर रहा है। "मनोवेग तो एक साधन है जिस के द्वारा हम प्रक्रिया की तीव्रता और गुण को समझ सकते हैं और यदि यह निष्प्रयोजन समझ लिया जाय तो ध्वनि भी वायु की तरंगों की एक निष्प्रयोजन उत्पत्ति है।"

भावधारा की तीव्रता का संवेदन कर सकने के अतिरिक्त कलाकार के अन्दर विरोधी भावों के सम्मुख आने पर भी मूल भावना पर केन्द्रित रहने की शक्ति होनी चाहिए। कई बार यह भी देखा जाता है कि कोई चित्र मनुष्यों के अन्दर अनेक विरोधात्मक भावों की उत्पत्ति करता है। ऐसे अवसरों पर कलाकार विरोधी भावों को मूल भाव का अंग बना कर अपनी क्रिया को एक ही ओर गतिशील रखता है। नाटक के अन्तर्गत विरोधी चरित्र कलाकार के मानस में उठे हुए विरोधी किन्तु सम्बद्ध मनोवेगों के उदाहरण हैं।

अतएव संक्षेप में "वस्तु-कलाकार की मौलिक उद्दीपिका-सरल अथवा मिश्र, वस्तुतः, अनुभूत, स्मृत अथवा कल्पित प्रतीति की एक ही क्रिया द्वारा अथवा एक लम्बे चक्करदार व्यापार द्वारा अनुभूत, मूर्त, अमूर्त अथवा दोनों का मिश्रण—किसी भी प्रकार की हो सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि यह कलाकार को कुछ ऐसी चीज़ दे जाय जो उस के अन्दर शक्तिमान् तथा अन्तरतम मूल प्रवृति की धारा को सम्बद्ध मनोवेग के साथ गतियुक्त कर दे। दूसरे शब्दों में यह उस के अन्दर जीवन प्रदीप्त कर दे। जीवन की यह शक्ति ही उस के कलाकार होने के गुण को प्रथमतया सूचित करती है। और कला की प्रधानता जिस की वह सृष्टि करता है इस प्रकार उद्दीप्त मनोवृत्तियों के पारिवर्तनिक मूल्य तथा उन की दिशा

और प्रतिक्रिया की सीमा पर निर्भर रहेगी[1]। वह मनुष्य, जिस की आत्मा सब से बड़ी वस्तु की उत्तेजना के प्रति ठीक-ठीक, शक्ति और गम्भीरता के साथ क्रिया कर सके और जिस की इच्छा शक्ति उस की आत्मा को वहीं पर केन्द्रित रख सके, अवश्य ही सब से बड़ा कलाकार होगा। आत्मा और वस्तु के इस परिणाम ही से बड़ी-बड़ी कलाओं की सृष्टि हुई है। आत्मा और वस्तु की पृथक् सत्ता है तथा कलाकृति की भी पृथक सत्ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे माता के पेट में बच्चा माता से सम्बद्ध है। माता के बिना नहीं जी सकता, किन्तु उस का अस्तित्व माता से भिन्न ही है।

अतएव किसी भी कृति का कलात्मक मूल्य निर्धारित करने के लिये हम यह देखना चाहिए कि उस के अन्दर वे गहरी मानसिक अनुभूतियां हैं या नहीं, जिन का प्रतीक वह कृति बनाया गया है। कलाकृति के मूल में एक प्रतीति, एक अनुभव का होना आवश्यक है।

संस्कृत के लक्षणकारों ने रस की अभिव्यंजना को उत्तम काव्य का लक्षण ठीक ही माना। कवि, भावना के आधिक्य ही के कारण लिखता है, अपनी उस भावना को पाठकों के अन्दर जगाना चाहता है। उस की कृति उस भावना का फल है जिस को स्थायी रूप से जीवित रखने के लिये उस ने अपने काव्य की रचना की थी। मनुष्य में प्रकृति ही से बसे हुए भावों का अध्ययन कर के उन्होंने स्थायी भावों की उद्दीत द्वारा दूसरे

[1] "And the importance of the art, which he will create, will depend on the evolutionary value of the instincts thus aroused, and on the direction and quality of their reactions."

रूप को प्राप्त रसों की गणना करा दी। वस्तुतः कवि की नीय भावना ही काव्य में रस का रूप ग्रहण कर लेती है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने कला का विवेचना किया है। कान्ट का अनुसरण कर के हीगल, शापनहार आदि ने कला पर सुन्दर लक्षणात्मक ग्रंथ लिखे हैं। इस में हीगल का स्थान प्रमुख है। जैसा कि हम आगे देखेंगे हमारे यहाँ के लक्षणकारों में तथा इन पाश्चात्य दार्शनिकों में—जिन में अधिकतर जर्मन हैं—अधिक भेद नहीं हैं। उन के अनुसार कला आत्मा का प्रकाश है। जगन्नाथ पंडित के 'रसो वै सः भग्नावरणा चिदेव रसः' से यह अधिक दूर नहीं है। अस्तु कला की कृतियों में आत्मा की छाप सदैव वर्तमान रहती है यह दूसरी बात है कि उस आत्मा को प्रदर्शित करने के लिये एक बाह्य अंग की आवश्यकता होती हो। किन्तु यह तो ज्ञात है कि आत्मा की स्थिति देह ही में हो सकती है, अन्यथा नहीं। मनुष्य-जीवन ही में देखिए, आत्मा के निवास का परिचय क्रियाशील शरीर के द्वारा होता है। कला के बाह्य स्वरूप की स्थिति स्वयं अपने लिए नहीं होती—ठीक इसी प्रकार जैसा कि दार्शनिक, मनुष्य शरीर की स्थिति को आत्मा की उन्नति के हेतु उपयुक्त साधन मानते हैं। अतएव कला का यह बाह्य वस्तु स्वरूप आत्मा की अनुभूति कराने का साधन-मात्र अथवा रेखामात्र हैं। हमारे भावों के परिचायक शब्दों की स्थिति स्वयं कुछ नहीं है।[1] अपने शुद्ध रूप में वे ध्वनि-मात्र अथवा रेखामात्र हैं जिन में सार्थकता तभी आती है जब वे भाव-विशिष्ट का संकेत

१—दर्शनशास्त्रों में भी भावों को समझाने के लिए वास्तविक जगत के सविकल्प पदार्थ घट और पट—आदि शब्दों का आश्रय लिया है।

करते हैं। हमारे शब्दों में तथा झिल्ली की झनकार में हमारी दृष्टि में तो बहुत अन्तर है जो अन्य जीवों के लिये समान रूप (निरर्थक) होंगे। कला के बाह्य रूप में धूर्तता और वास्तविकता इसी लिए होती है कि हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण कर व्यंजित भावों की प्रतीति कर सकें। जब हमारा मस्तिष्क उस के अन्दर चेतनता को ग्रहण कर लेता है तो वह बाह्य वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं रखता। नाटक में उच्चरित शब्दों तथा प्रदर्शित क्रियाओं से रस-चर्वण के अतिरिक्त हम कोई प्रयोजन नहीं रखते। रसानुभूति करते हुए हम बीतते चित्रों को भूलते जाते हैं क्यों कि उन के अन्दर की चेतनता को तो ग्रहण ही कर चुके। मृत शरीर से हमें लेना ही क्या ? इस प्रकार कला आत्मा और चेतन मस्तिष्क के अधिक निकट है और प्रकृति उस स्थान को न पा कर सदैव उस से ईर्ष्या करती रहती है।

२—कला-वस्तु तथा प्राकृत-वस्तु

कला में और कला जिसकी अनुकृति होती है उसमें उतना ही अंतर है जितना पुरुष और प्रकृति में। एक में सर्वथा चैतन्य है और दूसरी में जड़ता। चैतन्य और उसकी सृष्टि जड़ प्रकृति और उसके विभिन्न रूपों से ऊँचे पर है। अतएव कला का सौंदर्य प्राकृतिक जड़ सौंदर्य से उच्च कोटि का है। कला के सौंदर्य की सृष्टि चेतन मस्तिष्क से होती है और प्राकृतिक सौंदर्य भी यदि कभी कला के विषय होते हैं तो केवल तभी जब उनमें चेतनता का आरोप किया जाता है, या उनकी स्थिति में चेतन-रहस्य की संभावना की जाती है।

कला की किसी भी कृति में हम बाह्य वस्तु के स्वरूप से संतुष्ट नहीं हो जाते। हम उस कृति के अंदर जीवन की आशा करते हैं और उसे पाकर ही संतुष्ट हो सकते हैं। किंतु इस जीवन को प्रदर्शित करने के लिये बाह्य वस्तु का ऐसा स्वरूप होना चाहिए कि वह अन्तर्निहित जीवन को व्यंजित कर सके। यदि बाह्य वस्तु रूप में यह क्षमता नहीं है, तो साधारण प्रकृति की वस्तुओं में तथा कलात्मक वस्तुओं में कोई भेद ही ही नहीं रहेगा। प्रकृति के पत्थर में ऐसी काट छाँट करनी चाहिए कि उसके अंदर से जीवन-युक्त प्रतिमा निकल पड़े। इसी में कला का कलात्व है।

जैसा कहा जा चुका है, कला में बाह्य वस्तुओं का निर्देश स्वयं वस्तु निर्देश के लिए नहीं होता। बाह्य वस्तु तो केवल साधन हैं। 'उन का काम तो आंतरिक जीवन, प्रगति, भाव, आत्मा, चेतन, मन, अथवा रहस्य वस्तु का निर्देश करना है।'[1] यही कला का प्रयोजन है और इसी में उसका साफल्य है। किसी भी कलाकृति का सौंदर्य अथवा कुरूपता इसी पर निर्भर है कि कला-वस्तु आंतरिक जीवन को व्यंजित करने में कहाँ तक सफल रही है। कुरूपता का अर्थ कला में यह नहीं है कि वस्तु किसी भाव की व्यंजना न कर सके। कुरूपता के साथ भावों की व्यंजना है अवश्य, किंतु पृथक भावों की पृथक स्थानों ही पर। एक दृष्टि से देखे जाने पर व्यंजित भावों में विरोध दीखता है, एकता नहीं। वस्तु के सभी अंग एक ही भाव की ओर निर्देश नहीं करते। किसी

१—हेगल के यहाँ रस नाम की कोई वस्तु नहीं थी। अन्यथा उसे इस प्रकार से नामों के पीछे भटकना न पड़ता यह स्पष्ट है कि हेगल का तात्पर्य यहाँ रस से है।

भी वस्तु के कुरूप होने का अर्थ यही है कि उसके सारे अवयव आपस में सम्बद्ध होकर एकता का आभास नहीं देते। सौंदर्य भी कृत्रिम नहीं हो जाता है जहाँ वस्तुओं की रचना विरोधात्मक भावों का प्रदर्शन करती है।] कला-वस्तु में इसी आन्तरिक चैतन्य की झलक मिलती है और इसी का हम उस में अनुभव करते हैं। बाह्य वस्तु सदैव इसी आन्तरिकता की ओर संकेत करती रहती है, स्वयं अपनी स्थिति से उसे भी कोई प्रयोजन नहीं है।

कला में वस्तु और भाव का पूर्ण सामंजस्य रहता है। वस्तु का कोई भी अंग ऐसा नहीं होना चाहिये जो अंतरतम भाव में सहायक न होने के कारण अनावश्यक ठहरा दिया जाय। साथ ही वह ऐसा कोई भी भाव व्यंजित न करे जो मूल भाव की व्यंजना में विरोध उत्पन्न करे। यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु का प्रत्येक अंग एक ही भाव को प्रदर्शित करे। कुछ अंग अन्यतर भाव को भी व्यंजित कर सकते हैं, किन्तु ये व्यंग्य मूलव्यंग्य के अंग होने चाहिएँ। शृंगार रस की उत्पत्ति के साथ हास्य को उसका अंग बनाकर उसका सन्निवेश किया जा सकता है।

फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि एक भाव प्रत्येक वस्तु में उसी प्रकार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। वस्तु-प्रकार की भिन्नता के साथ व्यंजना की प्रक्रिया में भी भेद हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वही भाव भिन्न भिन्न रूप से प्रदर्शित किया जाता है। यही कारण है कि तैलचित्र, जल-चित्र, खड़ियाचित्र आदि तक में उसी रूप को प्रदर्शित करने के लिये भिन्न रीति ग्रहण करनी पड़ती है।

साधारण जीवन के उपयोग में आने वाली वस्तुओं में

तथा कला वस्तु में बड़ा भारी अंतर है। साधारण जीवन में हम वस्तुओं को अपने से पृथक मानकर उनको अपनी तुष्टि के लिये प्रयोग में लाते हैं। क्रियाओं में हमारी आत्मा स्वतंत्र नहीं रहती। उन वस्तुओं से देह का सम्बन्ध होने के कारण हमारी आत्मा उन के प्रति क्रियाशील रहती है; परन्तु वह रूप में, आत्मा उसके प्रति, क्रिया कर के अपना दर्शन नहीं पाती, अपितु स्वयं को उन के अधीन जान कर असंतुष्ट रहती है। आत्मा को इन अवसरों पर बाह्य जगत से सम्बन्ध रखना पड़ता है। इस प्रकार ये बाह्य स्थितियाँ आत्म संतुष्टि में बाधा पहुँचाती हैं, क्योंकि आत्मा स्वतंत्र क्रीड़ा न कर बाह्य स्थितियों के अनुकूल चलाने को बाध्य है। किन्तु कला में आत्मा को इस पराधीनता का अनुभव नहीं करना पड़ता। कला तो स्वयं आत्मा की व्यंजना करती है। कला की कृति से आत्मा स्वयं को पा जाती है। उस कृति में उसका बाह्य जगत से सम्बन्ध टूटकर केवल अपने ही में रमण रहता है। यहीं पर उसे अपने स्वरूप को ज्ञात करने का अवकाश मिलता है। इसका कारण जैसा कहा जा चुका है, यही है कि कला-वस्तु का केवल अपनी स्थिति से कोई प्रयोजन नहीं रहता वह तो आत्मा की व्यंजना का साधन है। आत्मा की स्वतंत्रता के लिये मनुष्य सदैव ही प्रयत्न करता रहता है। बुद्ध ने भी यही किया था। अपने सांसारिक जीवन में हमें या तो आत्मा का वस्तुओं के प्रति बंधन स्वीकार करना पड़ेगा अथवा हम इन बंधनों को तोड़ कर भाग ही जावेंगे, जैसा मुक्ति की इच्छा करने वाले करते रहे। किन्तु कला में वस्तु और आत्मा का ऐसा समन्वय होता है कि बाह्य रूप, बंधन न हो कर स्थायी रूप से आत्मा ही की तुष्टि के साधन बनते हैं। हाँ, सांसारिक बंधनों से मुक्ति का यह साधन मनुष्य को पूर्ण मोक्ष नहीं दिला सकता।

कला-वस्तु द्वारा जो आनन्द मनुष्य प्राप्त करता है, उस में लोकोत्तरता है। इस लोकोत्तरता में तीन गुण विशेष रूप से दीखते हैं। कला से उत्पन्न आनन्द स्थायी है, क्षणिक नहीं। संसार में अन्य वस्तुओं द्वारा जो संतोष होता है वह केवल उसी समय तक रहता है, जब तक वह वस्तु भुक्त की जाती है। साथ ही कुछ समय तक भोग करने के बाद उसकी ओर से मनुष्य की अरुचि हो जाती है। कला-वस्तु का उपभोग अनन्त समय तक किया जा सकता है। दूसरे, यह आनन्द वस्तु से साक्षात सम्बन्ध रखता है। कलात्मक आनन्द के लिये कलावस्तु की स्थिति की सदैव ही आवश्यकता रहती है। हम ससार के पदार्थों को खाकर, नष्ट करके अथवा उनका स्वरूप बदल कर के ही अपनी तृष्णा का आनन्द प्राप्त करते है। भोजन इसलिये अच्छा लगता है, क्योंकि उस से क्षुधा मिटती है। क्षुधा के परितोष से आनंद मिलता है, स्वयं भोजन की स्थिति से नहीं। किन्तु कला द्वारा आनंद स्वयं वस्तुस्थिति के द्वारा है। तीसरे, यह आनंद सर्वसाधारण है। इस में ईर्ष्या का अवकाश नहीं है, क्योंकि यह बाँटने पर घटता नहीं है। सब को पूरा-पूरा मिलता है। और सब से बड़ी बात तो यह है कि कला वस्तु सब सामाजिकों को एक रूप कर देती है। वास्तविक जगत से भिन्न काल्पनिक और आत्मिक जगत में बिठा देता है।

वास्तव में कला प्रकृति-संसार के ऊपर एक संशोधन है। संसार के अंदर हम कई वस्तुएँ देखते हैं और अधिकतर क्या सदा ही इनमें परस्पर विरोध दीखता रहता है। सुख ही के पास दुख, प्रेम ही के पास घृणा, ऊँचाई निचाई, अच्छाई-बुराई साथ-साथ दीखते हैं। प्रकृति में यह अपूर्णता स्पष्ट दीखती है। कला प्रकृति की इस अपूर्णता पर विजय है। यों

तो संसार की प्रत्येक वस्तु में कोई-न-कोई भावात्मक स्वरूप निहित रहता है। किंतु यह (भावात्मक स्वरूप) पार्श्वस्थित अपर पदार्थ में निहित भावात्मक रूप से विरुद्ध होने के अतिरिक्त अपूर्ण रूप में प्रकाशित रहता है। कलाकार के मन पर वस्तु का यह भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है। कलाकार उस भाव की अपूर्णता तथा अस्पष्ट व्यंग्यत्व देख कर उसे और अधिक पूर्णता तथा व्यंग्यत्व के साथ प्रकाशित करना चाहता है, किन्तु इसके लिए उसे फिर सविकल्प पदार्थ का (जो इस भाव की पूर्ण व्यंजकता के लिए सर्वथा उपयुक्त हो) आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार वास्तविक जगत् में जो भावना अपूर्ण रूप में थी उसको पूर्ण प्रकाश देना ही कलाकार का काम है। यों वस्तु में अपनी विशिष्टता हुआ करती है, जो जगत् की अन्य वस्तुओं की विशिष्टताओं से मेल नहीं खाती। कलाकार विशिष्टताओं को छोड़ कर साधारणत्व की ओर दौड़ता है। विशेषों से साधारणत्व को ग्रहण करके कला वस्तु में उसको अंकित करना ही कलाकारित्व है। किसी वस्तु के साधारणत्व को ग्रहण करके सरल उपयुक्त इन्द्रियग्राह्य सविकल्प स्वरूप में उसकी पुनः सृष्टि कर देने में फिर से नया जीवन उत्पन्न करने में कुछ विशेषता है। यह उसी वास्तविकता का पुनःप्रकाशन नहीं है जिस को हमारी इन्द्रियाँ संसार में देखती रहती हैं। कला में तो मनुष्य प्रकृति के साथ होड़ करता है—प्रकृति के अपूर्ण प्रयोजनों को पूरा कर देता है, और उसके दोषों को शुद्ध कर देता है।

यहाँ एक आशंका होती है। उपयोगिनी कलाएँ भी तो प्रकृति की कमियों को पूरा करती हैं, उनमें और ललित कलाओं में क्या भेद रहा? भेद अवश्य है। कलाओं को

औपयोगिक आवश्यकताओं से क्या प्रयोजन ? दूसरे, कला के तीन विशिष्ट गुण जो ऊपर बताये जा चुके हैं, उपयोगी कलाओं पर लागू नहीं होते। ललित कलाएँ वास्तविक जगत के ऊपर औपयोगिक सुधार नहीं करती हैं। वे तो कल्पना के सहारे केवल आदर्श अवस्था की ओर संकेत करती हैं— 'जिस ओर प्रकृति अपनी उच्चतम अवस्था में—मानव-जीवन में जहाँ उसकी इच्छा सबसे अधिक स्पष्ट है, यद्यपि उनकी असफलताएँ भी बहुत हैं—लक्ष्य करती रहती है।' कलाकार प्रकृति के अंदर बहुत सी वस्तुओं को छोड़ता रहता है जो यदि न छोड़ी जातीं तो मूल भाव में आघात पहुँचातीं, मूल की प्राप्ति में ठोकरों का काम करतीं। प्रकृति में केवलता की ओर कहीं कहीं पर ही संकेत है। इन स्थानों को एकत्रित करना ही तो कलाकार का काम है। अतएव कहा गया है कि 'कलाकार उन व्यवधानात्मक मद पदों को छोड़ देता है जिन के द्वारा प्रकृति शक्यत्व तथा अस्तित्व के भेद को एक साथ रखने का प्रयत्न करती है।' कलाकार स्वयं अस्तित्व और शक्यत्व के सामंजस्य को दिखाता रहता है। अस्तित्व को शक्य तक पहुँचा देता है।

कला की कृति में स्पष्टता है। भाव की पूर्ण प्रकाशता का साधन वह सविकल्प साक्षात् रूप का धारण किये रहती है। वह वास्तविकता है छाया नहीं, किन्तु ऐसी वास्तविकता जिसमें प्रकृति की कमजोरियों के स्थान पर भावों का अंतर्धान है। प्राकृतिक संसार की कृतियों से भाव स्पष्टतया व्यंजित नहीं होते, कलात्मक संसार भाव का स्पष्ट व्यंजक है।

काव्य में यदि अवास्तविकता है, तो केवल इतनी ही कि वह वास्तविकता को भी पार कर जाता है। उसमें ऐसा

मिथ्यात्व नहीं होता, जो कला को प्रकृति के तत्वों अथवा उसकी भावनात्मक प्रगतियों के विरुद्ध दिखाये। इतिहास वास्तविक घटनाओं का उल्लेख करता है। काव्य उन्हीं घटनाओं में से काट-छाँट कर के उन को चिरन्तन सत्य के रूप में ढाल देता है। इतिहास के आधार पर बने हुए नाटकों में काल्पनिकता होती है किन्तु वह इस प्रकार की कि घटनाएँ और अधिक सत्य दीखें—और उसी समय ही सत्य नहीं अपितु संसार के किसी क्षण में भी सत्य। ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता के बारे में तो हमें कभी संदेह हो सकता है क्योंकि मानव-प्रकृति भावनाओं में विरोधात्मक प्रवृत्ति का निदर्शन कराती रहती है। मनुष्य के आवेशों की प्रगति के विषय में कोई तार्किक युक्ति नहीं ठहरायी जा सकती। किंतु काव्य तो उन संभवताओं पर निर्भर है जिनका किन्हीं विशेष अवस्थाओं में होना निश्चित है। काव्य संसार—दैवयोग को स्वीकार नहीं करता। "दैवयोग तो युक्ति विरुद्ध कारण है। वह नियमहीनता और असंबद्धता को लाता है।" अतएव काव्य में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। काव्य में आदर्श भाव—एकता—का वर्णन रहता है। दैवयोग में युक्ति का अवकाश न होने के कारण वह काव्य से दूर ही है। इसलिये काव्य, प्रकृति से ऊंचे उठा रहता है। यह बुद्धिहीनता तो प्रकृति ही में है कि बिना युक्ति के किसी घटना को स्थान दे दे। और यदि काव्य में कहीं दैवयोग होगा भी तो केवल वहीं जहाँ उसका होना सप्रयोजन है। उसकी प्रयोजनवत्ता ही उसकी स्थिति के लिए अच्छी युक्ति है। काव्य के दैवयोग की स्थिति का कारण और औचित्य हमारी समझ में आ जाता है और इसलिए हमारी बुद्धि उस घटना के प्रति विद्रोह करने के लिए खड़ी नहीं हो जाती।

कला वास्तविकता से भी आगे बढ़ जाती है, किन्तु इस गति में वह सांसारिक मानव-युक्ति के विरुद्ध नहीं जा सकती। कला शक्यत्व का प्रदर्शन करती है, किन्तु उसी शक्यत्व का जो युक्ति-युक्त ठहरता है अथवा जो वास्तविकता से गृहीत नियमों की भित्ति पर रचा गया है। यह शक्यत्व इस प्रकार केवल अविरोधात्मक संभावित अस्तित्व है। कला उच्चतर सत्य को निदर्शित करती है। उस की संभवता (शक्यता) केवल यहीं तक सीमित है कि वह साधारण को उस रूप में प्रकट नहीं करती जिस रूप में वह वास्तविक जगत् में पाया जाता है—जैसा वह स्वयं है (अविकल्प भाव के रूप में) वरन् उस रूप में जिस में वह वह इंद्रियग्राह्कता का विषय हो सके। काव्य में कल्पना की उड़ान निरर्थक उड़ान नहीं है। कला में वस्तुओं का रूप इसीलिए परिवर्तित कर दिया जाता है कि साधारण भाव अधिक पूर्णता और स्पष्टता के साथ व्यंजित हो। कवि के झूठ में हम विश्वास कर लेते हैं। अन्य सांसारिक मनुष्यों के झूठ को हम पकड़ लेते हैं। इसका कारण यही है कि सांसारिक मनुष्य की कल्पना युक्ति की सीमा को लाँघ गयी थी और कवि की कल्पना वास्तविक जगत् के सत्य को पूर्ण कर रही थी।

किन्तु यह भी सत्य है कि कला बौद्धिक विवेचन का विषय नहीं है। वह स्वयं को तर्क बुद्धि के समक्ष उपस्थित नहीं करती। कला का उपभोग करते समय तो सामाजिक का मन तथा बुद्धि दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं (उस का स्थान प्रतिभा और सहृदयत्व ले लेते हैं)। मनुष्य ऐसे समय में विवेचनात्मक नहीं रह सकता, यदि विवेचनात्मक होगा तो कला के वास्तविक आनन्द की प्रतीति में बाधा उपस्थित हो जायगी। कला तो ऐंद्रिय अनुभूति और कल्पना शक्ति का विषय है। इस का

सम्बन्ध वस्तु के शारीरिक संगठन से नहीं है, वरन् केवल बाह्य स्वरूप से—वस्तु की ऐंद्रिय प्रतीति से। इस प्रकार कला, माया का प्रयोग करती है। वस्तु से उस प्रतीति का प्रतिपादन कराती है जो उसका आवयविक संगठन नहीं है। इस दृष्टि से कला का संसार शुद्ध बुद्धि से प्रकाशित संसार नहीं है। कला सत्य को देखना चाहती है किन्तु उस रूप में नहीं जिस में वह वर्तमान है। उस सत्य को—अविकल्प भाव को—यह सविकल्प प्रकटता के रूप में देखना चाहती है। कला पदार्थों की विषयात्मक वास्तविकता को कभी भी शरीर नहीं देती। पदार्थों की वास्तविकता से उसे कुछ नहीं लेना है। अधिक-से-अधिक पदार्थों के ऐंद्रिय स्वरूप को वह अपनी भाव व्यंजना का साधन बनाती है। कला ऐंद्रिय प्रतीति द्वारा अनुभूत मानव-प्रवृत्तियों का परिचय कराने ही के लिये पदार्थों की वस्तुस्थिति से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि उस की प्रतीति ऐंद्रिय होनी चाहिए और ऐंद्रिय होने के लिए उस में सविकल्पता होनी चाहिए। इसीलिए कला में सौंदर्य का प्रमुख स्थान है, वरन् सौंदर्य ही कला का धर्म है, लक्षण है।

अतएव कलाकार का हाथ वस्तु की रचना में मँजा होना चाहिए। उच्चतम कोटि के भाव को धारण करना ही यथेष्ट नहीं है। उस भाव को प्रकाशित करने वाली वस्तु की उपयुक्त रचना में भी कलाकार चतुर होना चाहिए। लोगों की अधिकतर यह धारणा है कि कला के लिए प्रेरणा और जन्म सिद्ध प्रतिभा ही की आवश्यकता है। वास्तव में कला-वस्तु की रचना में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कलाकार जिस वस्तु को कलात्मक रूप देना चाहता है उस के प्रयोग में वह कहाँ तक कुशल है, कलासृष्टि के व्यापार में उस का कितना पांडित्य है। मूर्तिकार पत्थर के ऊपर अपनी छेनी किस

सफलता से चला सकता है। हाँ, यह भी अप्रधान नहीं है कि कलाकार मूर्ति के अन्दर किस भाव को व्यंजित करना चाहता है और वह भाव कितना प्रभावोत्पादक तथा मौलिक है। कलाकार जितना ही महान् होगा उतना ही वह आत्मा और मन की गंभीर अनुभूतियों को प्रदर्शित करने में प्रवीण होगा। और यह कौशल सांसारिक जीवन के विभिन्न अंगों तथा भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के ज्ञान के साथ बढ़ता जाता है। काव्य प्रकाश कार ने काव्य की रचना के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों ही की आवश्यकता समझी और यह ठीक भी है। रसगंगाधरकार ने यद्यपि प्रतिभा ही को काव्य का कारण माना है, फिर भी उसकी 'प्रतिभा' के अंदर व्युत्पत्ति और अभ्यास का पुट वर्तमान है। प्रधानता में तो भिन्न-भिन्न लक्षणकारों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं, किन्तु एक बात में संदेह नहीं है कि कलाकृति के स्वरूप और अंतरतम भाव में पूर्ण सामंजस्य रहना चाहिए। यदि तीव्रतम उच्च भावना को कलाकार उचित ऐंद्रिय स्वरूप नहीं दे सका, तो वह कला की कृति, सामाजिकों में वैसी अनुभूति उत्पन्न नहीं कर सकती। साथ ही निकृष्ट भावों को मँजी हुई रचना में रखने से कलात्व न हो कर मदारी के खेल का आभास होगा। आन्तरिक भाव के अनुकूल बाह्य शरीर का होना नितांत आवश्यक है, अतएव प्रतिभा के साथ कला के साधनों में रचना-कौशल भी आवश्यक है।

३—कला के पाँच भेद

कला मानव आत्मा की क्रिया है और अनुभूतियों की तीव्रता के कारण उस की सृष्टि होती है। काल-भाव का

प्रतिपत्ति के हेतु उसको शारीरिक रूप भी दिया जाता है। भिन्न-भिन्न कलाकर उसे भिन्न-भिन्न रूप क्यों देते हैं और भिन्न-भिन्न कलाकार संसार की उन्हीं वस्तुओं से भिन्न भाव क्यों ग्रहण करते हैं, इस का उत्तर मनुष्य की शारीरिक रचना दे सकती है। यह मनुष्य की अपनी शारीरिक बनावट पर निर्भर है कि उस के ऊपर किस प्रकार के ऐन्द्रिय, बौद्धिक अथवा भावात्मक वस्तुओं का अनुभूत्यात्मक प्रभाव पड़ता है। वे कौन वस्तुएँ हैं जो उस की भावनात्मक अनुभूति की उच्चतम साधन हैं। मनुष्य अपने अंगों में से कुछ से अधिक काम लेता है तथा अन्य से कम। जीवन में मनुष्य सर्वसाधारण के समान होता है परन्तु उस की प्रतीतियाँ औरों से भिन्न रहती हैं। विशेषतया चाक्षुष, स्पार्श अथवा कार्ण हो सकती हैं। चाक्षुष तथा स्पार्श गुणों से युक्त मनुष्य अच्छा चित्रकार होगा किन्तु स्पर्शात्मकता अधिक होने से वही मूर्तिकार हो जायगा। ऐसे ही संगीत भी उस मनुष्य की कला है जो अपनी भावनात्मक अनुभूतियों को कान के द्वारा ग्रहण कर के उन को प्रतिपादित करने के लिए उसी इन्द्रिय का प्रयोग करे। ऐन्द्रिय के साथ बौद्धिक प्रतीति को विशेषतया धारण करने वाला मनुष्य सफल काव्यकर्ता हो सकता है। इस प्रकार किसी मनुष्य को सफल कलाकार बनाने वाली उस की स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं। अथवा यों कहिए उस की मनोवृत्तियों की विशेष रचना है जो उस को प्रतीत वस्तुओं के भावात्मक गुणों के प्रति किसी विशेष मार्ग द्वारा तीव्र किया करने को बाध्य कर देती है। यह तो स्पष्ट ही है कि कलाकार के लिये इस भावनात्मक अनुभूति को अपनी आत्मा से पृथक कर के एक स्वतन्त्र स्थायी रूप दे देना आवश्यक होता है। किन्तु उस की कलात्मक क्रिया किन भौतिक साधनों द्वारा

प्रकट होगी, अर्थात् वह कला के किस भेद में अपनी रचना करेगा यह इस पर निर्भर होगा कि उस की शारीरिक ऐन्द्रियता प्रतीति के किन साधनों द्वारा शीघ्रतर और तीव्रतर रूप में प्रकट हो सकती है।

प्रकृति ने मनुष्यों को समान साधन दिये हैं। किन्तु मनुष्य अपनी मनोवृत्ति और आवश्यकता के अनुकूल इन्हीं साधनों में कुछ का अधिक उपयोग करता है तथा कुछ का कम। देश-काल और संगति के प्रभाव से इन ऐन्द्रिय साधनों की ग्राहकता में भेद हो जाता है। संगीतज्ञों के कुटुम्ब अथवा समाज में रहने वाले बच्चों की कार्ण प्रतीति निरन्तर अभ्यास के कारण सविशेष हो जाती है। अन्धा अच्छा गायक इसी लिये होता है कि चाक्षुप प्रतीति की सम्भावना न होने के कारण उस की प्रतीति विशेषतया कार्णी हो जाती है। जन्म-प्राप्त प्रतिभा तथा देश की स्थिति भी इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण प्रभाव डालती है। दर्शन, भारत और जर्मनी ही में इतना अधिक क्यों है? चित्रकार इटली ही में अधिक क्यों हुए? ये सब बातें यही सिद्ध करती हैं।

साधनों की दृष्टि से कला के पाँच मुख्य भेद किये गये हैं। वास्तुकला अर्थात् मन्दिर-निर्माण, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और काव्य। वास्तुकला को सब से निकृष्ट स्थान दिया गया है। भाव का पूर्ण अभिव्यंजन इस में सम्भव नहीं है। मानव व्यापारों तथा मनुष्य की अन्तरतम अनुभूतियों का तो यहाँ अवकाश ही नहीं है। मूर्तिकला में आत्मा की सत्ता का आभास दिया जा सकता है। मूर्ति में मानवता का संकेत होने के कारण वह हमारी प्रवृत्तियों के लिये अधिक उपयुक्त साधन है। वास्तुकला में गम्भीरता, विशालता आदि भावों

ही का समावेश हो सकता है किन्तु मूर्तिकला में भावना की इच्छा, रुचि, हर्ष शोक आदि मानव अनुभूतियों का निर्देशन हो सकता है। मूर्ति के अन्दर इस प्रकार आत्मा की सत्ता तथा आत्मिक व्यापारों का आभास दीख जाता है। चित्रकला में मानव अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ और बारीक रूप में तथा और अधिक स्पष्ट दिखायी जा सकती हैं। प्रकाश और छाया तथा रंगों के सम्मिश्रण से ऐसी वस्तु की रचना की जा सकती है जिस में व्यंजकता अधिक हो। संगीत में स्वर और लय ऊँचे और नीचे होते हुए हृदय के अन्दर भावना को दीर्घतर करते हुए चलते हैं। चित्रकला तो चित्र में रंजित भाव अथवा भावों तक सीमित है। वे ही भाव स्थायी रूप में प्रकट होते हैं। उनकी अधिकाधिक पुष्टि के लिए न तो चित्र से बाहर की कोई वस्तु आ सकती है और न कोई ऐसे परिवर्तन किये जा सकते हैं जो पहले की अनुभूतियों को तीव्र करते रहें। काव्य में सभी प्रकार की वस्तुओं का समावेश होने के कारण तथा किसी भी सीमा के न होने के कारण भावों की व्यंजना सब से अधिक होती है। काव्य में अधिक व्यंजकता होने का एक कारण यह भी है कि उस में ऐन्द्रिय के साथ बौद्धिक प्रतीति का भी अधिकाधिक अवकाश होता है। साथ ही मानव व्यापार जितनी पूर्णता और विशदता के साथ काव्य में दिखाये जा सकते हैं उतना और किसी कला में नहीं। और कलाएँ तो फिर भी ससीम हैं।

कुछ लोग मूर्त्तता को कला में हीनता का कारण समझते हैं। उन का कहना है कि जिस कला में मूर्त्तता जितनी अधिक होगी वह उतनी ही निम्न कोटि की होगी। वास्तुकला में मूर्त्तता सब से अधिक है अतएव वह सब से हीन है। काव्य में केवल ध्वनियों ही में मूर्त्तता है अतएव वह सर्व श्रेष्ठ है।

इन लोगों के कथन में पूर्ण सत्य नहीं है। नाटक में मूर्त्तता की कमी नहीं है फिर भी संगीत से उस में कलात्मकता अधिक है। किन्तु इस कथन में सच्चाई भी है। मूर्त्तता का होना यद्यपि दोष नहीं है फिर भी मूर्त्तता ऐसी नहीं होनी चाहिये कि भावों की प्रतीति के लिये सामाजिक, निरन्तर उस की स्थिति को अपने सामने चाहे। कला के भाव का, मूर्त कला-वस्तु से ऐसा सम्बन्ध नहीं होना चाहिए कि भाव वस्तु की मूर्त्तता से पृथक न किया जा सके। मूर्तिकला आदि में भाव की व्यंजना के साथ-साथ मूर्ति की वास्तविकता भी प्रत्यक्ष होती रहती है। काव्य में शब्द आदि भुलाये जा सकते हैं क्योंकि वे भावों के संकेत होने के कारण स्वयं उपयुक्त नहीं होते। अतएव मूर्ति आदि में भावों की व्यंजना है अवश्य, किन्तु वह वस्तु के वास्तविक रूप से अपने को भिन्न नहीं कर सकती। चित्रित विषय की स्थिति आवश्यक हो जाने के कारण व्यंजित भाव अप्रधान हो जाते हैं और इस प्रकार उन में गौणता आ जाता है। इन कलाओं में ध्वनि नहीं हो सकती, वहाँ तो केवल गुणी भूत का अवकाश है।

इस दृष्टि से हम फिर सब कलाओं का विवेचना करेंगे। वास्तुकला में भाव का प्रकाशन बोधगम्य चेतनता के रूप में नहीं हो सकता। उस में आत्मा का प्रतीत्यात्मक स्वरूप प्रदर्शित ही नहीं किया जा सकता। उस का कारण यह है कि इस में वस्तु की स्थिति एक बाह्य परिधान के रूप में भाव की स्वतन्त्र सत्ता में विरोध उत्पन्न करती रहती है। वास्तुकला में भाव और वाह्यवस्तु में ऐक्याभाव का अवकाश ही नहीं है। मूर्तिकला में मूर्ति के अन्दर आत्मिकता आन्तरिक सत्ता के रूप में वर्तमान रहती है और इसलिये वह वास्तुकला से ऊंची है। फिर भी मूर्तिकला में ऐसे किसी भी आत्मिक भाव का

प्रतिपादन नहीं हो सकता जो शारीरिक रूप द्वारा प्रतीत करने योग्य प्रदर्शन की क्षमता न रखता हो। चित्रकला, संगीत और काव्य में आत्मिक प्रयोजन और भौतिक स्थिति की एकता अधिक सम्भव है किन्तु चित्रकला में भी आत्मिक भाव को बाह्य वस्तु से पूरा छुटकारा नहीं मिल सकता यद्यपि यहाँ बाह्य वस्तु अपनी विरोधात्मक सत्ता को प्रधान रूप में नहीं रखती। चित्रकला को भौतिक शरीर से बहुत कुछ छुटकारा मिल जाता है क्योंकि इस में एक ही तल से काम चल जाता है। संगीत में ध्वनि ही भाव का बन्धन है, वस्तु का कोई प्रयोजन ही नहीं है। काव्य में ध्वनि के परिधान की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। शब्द, भाव के संकेत मात्र होने के कारण अपनी सतन्त्र सत्ता धारण नहीं करते।

चित्रकला में रूप और रंग की वास्तविक सत्ता चरित्र का पूर्ण निदर्शन नहीं होने देती। चित्र में भावात्मक प्रतीति का बहुत कुछ अंश रूप और रंग पर निर्भर रहता है। रूप और रंग के द्वारा उत्पन्न आनन्द आत्मिक सत्ता की प्रतीति में व्यवधान रूप रहता है। अतएव चित्र के बाह्य रूप अन्तरतम सत्ता का संकेत करने में उतने क्षम नहीं है जितना संगीत के अन्दर ताल और लय के अनुसार चलने वाली नियमित गतियों का आत्मा से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। गतियाँ आत्मिक जीवन की साक्षात् अनुकृति हैं और आत्मिक जीवन स्वयं क्रियारूप अथवा गतिरूप है। इन के अतिरिक्त संगीत में (तथा नाटक में भी) प्रयुक्त मुख-मुद्राएँ और भाव (शारीरिक स्थिति विशेष) स्वयं एक भाषा हैं जिसे स्वयं प्रकृति (चेतन रूप) ने हमें सिखाया है और जिस का अर्थ लगाने के लिए किसी तद्विषयक (टेकनिकल) ज्ञाता की आवश्यकता नहीं है। वे भाव प्रकाशन के नैसर्गिक साधन हैं, भाषा के समान कृत्रिम नहीं।

उन से हमें साक्षात् व्यंजना के द्वारा अर्थ ज्ञात होता है, ज्ञानात्मक अनुमान आदि बौद्धिक व्यापारों के द्वारा नहीं। यदि ये संकेत हैं तो कृत्रिम यौगिक अथवा योगरूढ़ि संकेत नहीं, किन्तु जीवित संकेत जिन के द्वारा बाह्य स्वरूप आत्मा की गति का निर्देश करते हैं। इस प्रकार ये शरीर और आत्मा की आन्तरिक एकता के दृश्य सांकेतिक चिन्ह हैं।

संगीत का विषय आत्मा की अपरिमापिक गति है। उसे उन गीतात्मक स्वरों से प्रयोजन है जो विचारात्मक मन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। संगीत का विषय शुद्ध चैतन्य है जहाँ बौद्ध व्यापार को विषय ही नहीं मिलता। कला तो मूलतः भावों की अभिव्यंजना है। प्रारम्भिक अवस्था में जब मनुष्य की भावनाएँ अत्यन्त तीव्र हो जाती थीं तो शक्ति की धारा अबाध हो जाने के कारण प्रारम्भिक कला की सृष्टि हुई। कला यहाँ तक केवल हृदय की उपज थी। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया विवेक ने भावों को स्वतन्त्र रूप से चलने की आज्ञा नहीं दी। बुद्धि और भावना के संघर्ष से नवीन कला की सृष्टि हुई जिस में भावना बुद्धि के विरुद्ध न जा सकी। बुद्धि की प्रधानता के कारण ही आज का समाज नाटक का आनन्द चरित्र-चित्रण द्वारा लेता है और कला के प्रत्येक अग में युक्ति-युक्तता देखता है। अस्तु, संगीत, प्रकृति से उत्पन्न शुद्ध कला है और उस में भावना ही का पक्ष प्रधान है। यही कारण है कि बौद्धिक व्यापार के विकास से वंचित बच्चों तथा जंगली जातियों में संगीत की प्रतिभा दीख जाती है।

अरस्तू के अनुसार संगीत में और कलाओं की अपेक्षा— "अभिव्यंजनात्मक अनुकृति की क्षमता सब से अधिक है। शब्दों की ताल और वृत्त सम्बन्धी गति, आत्मा की गति के

अनुरूप है। प्रत्येक अकेला स्वर एक विभिन्न आन्तरिक क्षुब्धता के रूप में अनुभव किया जाता है। ताल और लय के नियमों से बद्ध संगीतात्मक ध्वनियों की अनुगीति उन बाह्य स्फुरणों से पूर्ण समानता धारण करती है जो (प्राकृत रूप में) मानसिक अवस्था के निदर्शन हैं।" अत्यन्त हर्ष, शोक अथवा किसी भी भावना में, ध्वनि का उच्चारण मनुष्य सर्वप्रथम करता है। हर्षातिरेक में बच्चा 'हो, हो' कर दौड़ने लगता है। ध्वनि और गति का हृदय से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण हम उन के द्वारा हृदय के अन्दर भी अनुभूति उत्पन्न कर सकते हैं। कार्य का प्रदर्शन कर के कारण की उत्पत्ति व्यंजना-व्यापार द्वारा की जा सकती है। यही रहस्य, संगीत और नृत्य को क्या, सभी कलाओं को कलात्मकता प्रदान करता है।

काव्य में हार्दिक पक्ष के साथ-साथ मानसिक पक्ष का भी समावेश हुआ और यही नहीं वहाँ मानसिक पक्ष प्रधान भी हो गया। कलावस्तु की रचना में युक्ति-युक्तता आदि बौद्धिक व्यापारों का विशेष प्रयोग लगा। किन्तु कला तो ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय है और भावनात्मक जगत् से सम्बन्ध रखती है फिर क्या कारण है कि भावनात्मकता को तज कर बुद्धि की प्रधानता हो चली ? यहाँ ध्यान देने योग्य है कि वस्तु-रचना में मानसिकता आयी किन्तु यही देखने के लिये कि वस्तु में खटकने वाली कोई ऐसी बात न निकल जाय जो भावात्मक जगत् में विचरण करने वाली आत्मा को ठोकर पहुँचा दे। काव्य में मानसिक पक्ष इतना ही है कि रचना मन को क्रियाशील न होने दे, वह सदैव निष्क्रिय ग्राहक रहे। इस प्रकार मानसिक पक्ष ने कला के अन्दर अधिकाधिक भावोत्पत्ति कर के हृदय की सेवा ही की।

एक बात फिर भी याद रखनी चाहिए। कला कोई वस्तु विशेष नहीं है। वह मानव आत्मा की क्रिया है—एक व्यापार है। उसका सार जो कुछ भी हो इन्द्रियगोचर नहीं है। वास्तु-कला तथा मूर्तिकला तीन मान वाले देश के (स्पेस) द्वारा वहन की गयी अनुभूति है। चित्रकला दो मान के दैशिक सम्बन्धों में प्रकाश-किरणों के अनुपात द्वारा वहन की गयी अनुभूति है। इसी प्रकार संगीत अपने तत्व का विभिन्न शाब्दिक अनुपातों में वायु-कम्पनों के द्वारा दूसरे तक पहुँचाता है। इसका तत्व भी अनुभूति है, कोई वस्तु नहीं है। साहित्य का व्यापार क्लिष्ट है किन्तु वह भी शब्दों के द्वारा प्रति-पादित मानव अनुभूति है। कला अतएव, वस्तु नहीं है उस का काम जड़ प्रकृति के कुछ नियमों द्वारा अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाना है।

एक आशंका की जा सकती है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने केवल काव्य ही को लोकोत्तर आनन्द की उत्पत्ति करने वाला माना है। चित्रकला, संगीत और नृत्य को नीचा स्थान दे कर उन्होंने उन को नाटक में रस के हेतु उप-युक्त अंग मान लिया। यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु पाश्चात्य कला शास्त्रियों ने वास्तुकला तक को कला में स्थान दे दिया परन्तु नृत्य को कोई स्थान नहीं दिया। यह तो निश्चित है कि भावों की अभिव्यंजना करने में मूर्तिकला और चित्रकला, नृत्य के सामने नहीं ठहर सकती। संगीत में भी उतनी क्षमता है या नहीं या उस से अधिक है इस के बारे में निश्चय से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् संगीत नृत्य के लिये संगीत की पृष्ठभूमि अथवा पार्श्वभूमि आवश्यक है। साधारणतया पाश्चात्यों का नृत्य, खेल-कूद आदि के समान है उस में कलात्व का कोई आभास नहीं है और न नृत्य में उन्हों

ने इस प्रयोजन को खोजा है। इसीलिए कदाचित् उन्हों ने पहले कभी उसे कला का विषय कल्पित न किया हो। किन्तु अब तो पाश्चात्यों ने भी नृत्य को दूसरे रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया है। क्या कारण है कि इसे अभी तक कलात्व नहीं मिला। कदाचित प्राचीन कला-शास्त्रियों की पाँच की गणना ,को तोड़ने की इच्छा न करने वाले, नृत्य को संगीत के अन्दर मानते हों किन्तु यह स्पष्टतया दीखने में नहीं आता।

अस्तु नृत्य कला भी ध्येय है, यदि हम और कलाओं को ध्येय मानते हैं। मनुष्य की प्रारम्भिक कलारुचि के प्रदर्शन संगीत और नृत्य काव्य ही के अंग हो सकते हैं; यही कारण है कि नाटक, विना इन के सदैव अपूर्ण समझे जाते हैं। रस-चर्वण के हेतु उपयुक्त मानसिक अवस्था उत्पन्न करने में तथा आत्म-विस्मृति ला देने में संगीत और नृत्य ही प्रमुख साधन हैं। आज का पाश्चात्य जगत् कितना ही जोर लगावे चित्र-कला मनुष्य के अन्दर भावों की वह सृष्टि तथा आत्मा की वह स्वतन्त्र गति उत्पन्न नहीं कर सकती जो संगीत, नृत्य और काव्य कर सकते हैं। अपनी ही परिकल्पित मिथ्या भावना में रह कर वे मौर्ख स्वर्ग (फ़ूल्स पैराडाइज़) का उपभोग भले ही कर लें किन्तु पूर्वग्रह को तज कर वे विचार करेंगे तो उन्हें मानना पड़ेगा कि संगीत आदि चित्रकला से कहीं ऊँचे स्थान पर हैं। उन्हीं के प्रचीन समझदार दार्शनिकों (हेगल आदि) ने संगीत और काव्य को श्रेष्ठतम स्थान दे दिया है।

४—सत्यं शिवं सुन्दरम्

कला के अन्दर सत्य, शिवं और सुन्दर की भावना पाश्चात्यों के मस्तिष्क की उपज है। संस्कृत के काव्य शास्त्रियों

ने काव्य के धर्मों में सत्य, शिवं और सुन्दर को नाम ले कर कोई स्थान नहीं दिया है। 'किन्तु पाश्चात्य कला शास्त्रियों ने (लगभग प्रत्येक ने) इन के ऊपर टिप्पणी की है और इन को कला का आवश्यक अंग माना है। सौन्दर्य के बारे में प्रत्येक ने लिखा है और इस की परिभाषा में मतभेद भी बहुत है। सत्य और सुन्दर में तो बहुत गड़बड़ भी की गई और एक के स्थान पर दूसरा लिख दिया गया है। हमारे यहाँ सत्यत्व से यदि कोई अर्थ निकलता है तो वह है रस अथवा भाव की अवस्थिति, और सौन्दर्य का अर्थ है इस रस या भाव की काव्य में प्रकटता। हम उसी काव्य को सुन्दर बताते हैं जो कि भाव की पूर्ण प्रतीति करा दे। यद्यपि हमारे यहाँ विशिष्टतया सौन्दर्य और सत्यत्व की परिभाषा नहीं की गई है फिर भी हम देखेंगे कि पाश्चात्यों के सत्यत्व और सौन्दर्य में और हम इन से जो कुछ समझते हैं उस में कोई भी अन्तर नहीं है। शिवत्व के विषय में अवश्य कुछ भ्रान्ति जैसे हमारे यहाँ है वैसी ही पाश्चात्यों में भी है। इस का विवेचन हम प्रकृत के साथ करेंगे।

संस्कृत में सत्यं, शिवं सुन्दरम् परमात्मा के विशेषण रूप से प्रयुक्त हुए हैं। 'रसो वै सः' कह कर रस का रूप भी सत्यं शिवं सुन्दरम् गृहीत हो गया। सत्यं शिवं सुन्दरम् का प्रयोग हिन्दी में अधिक देखते हैं। 'शिव सुन्दरम्' का प्रयोग तुलसी की विनय पत्रिका में मिलता है, और सत्यं शिव सुन्दरम् का उपयोग वेणीमाधवदास के मूल गोसाईं चरित में पहली बार हुआ है किन्तु इस शब्दावली का अधिक प्रचलन राम मोहनराय के समय से हुआ। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी की शिक्षा ने हमें शब्दों का प्रयोग आकर्षक बताया। हिन्दी कवियों ने अधिकतर साहित्यिक ज्ञान अंग्रेजी से ग्रहण किया,

संस्कृत उन के लिए दुरूह ही रही। कला के सत्य और जगत के सत्य में कुछ भेद है। वास्तविक जगत में सत्य वही है जो हुआ हो, है या होगा। कला के अंदर सत्य एक घटना नहीं है। वहाँ सत्य तो और भी उच्च कोटि का है जो सदैव निरंतर होता रहता है, इस प्रकार कला में सत्यता वे मानव प्रवृत्तियाँ हैं जो सर्व साधारण में स्थाई रूप से वर्तमान रहती हैं, जिन का अन्यथा होना असंभव है। कला में सत्यता के प्रयोग का अर्थ उन मानव प्रवृत्तियों की कलात्मक रचना है जो कि चेतना के स्थाई गुण हैं अथवा चेतना के स्थाई रूप हैं। संस्कृत के रस और कुछ नहीं हैं, मनुष्यों की स्थाई भाव रूप चेतना ही की स्वयं प्रकाशता हैं। स्थाई भाव ही सजग हो कर रस का नाम ग्रहण कर लेते हैं।

कला की सत्यता इसी में है कि उस की उत्पत्ति मानव चैतन्य से हुई है। संसार में सत्य यदि है तो केवल आत्मा ही चैतन्य है, जिस के अन्दर कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, जो सदैव से और अनंत तक स्थाई है। अतएव ऐसी भूमि से उत्पन्न कला का भी वही रूप होता है क्योंकि उसका सार ही मानव चेतना है। आत्मा और मन संस्कार से उत्पन्न कला की सत्यता चैतन्य की अवस्थिति में है। कला के प्रत्येक अंग में संपूर्ण आत्मत्व और विश्वास धारण प्रवृत्तियों का आरोप रहता है। वह अंग वास्तविक जीवन के सत्यात्मक भावों द्वारा अधिक गंभीर और स्पष्ट रूप में अंकित रहता है। इस प्रकार अचिर मिथ्यात्व के स्थान पर कला में चिर स्थाई सत्यता डाल दी जाती है।

कला कृति समझी नहीं जाती उस की तो केवल अनुभूति हो सकती है, दूसरे शब्दों में कला में सौन्दर्य और चेतना का अनुभव होता है ज्ञान नहीं (संस्कृत के लक्षणकार

अनुभव न कह कर व्यंजनात्मक प्रतीति कहेंगे जो अधिक उपयुक्त है)। बौद्धिक व्यापार (जो सर्वथा ज्ञानात्मक होता है) प्रतिमा को एक पत्थर देखेगा जिस में छेनी केवल चली है, किन्तु बौद्धिक व्यापार के न होने का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि कला का कोई लक्ष्य ही नहीं है, कोई ध्येय ही नहीं है। कला का प्रथम ध्येय यही है कि आत्मा स्वयं को आत्मपर्यवसित रूप में ग्रहण करले, अपनी सत्ता को निश्चित कर ले अर्थात् अपनी सत्यता को प्रतीत कर ले।

संसार में जो वाह्य रूप में प्रतीत होता है वह सत्य नहीं है। वस्तु कोई भी सत्य नहीं है। सत्य वही है जो अपने स्वतन्त्र रूप में वास्तविक है, जो चेतन प्रकृति और मन की उद्भूनि है, जो यद्यपि "लोक में वर्तमान और शान्त सत्ता के रूप में दीखती है फिर भी इस सोमा के अन्दर रह कर तथ्य रूप आत्मपर्यवसित सत्ता धारण करती है और इसी से अपनी वास्तविकता सिद्ध करती है।" विश्व की इन साधारण शक्तियों की प्रभविष्णुता का प्रदर्शन ही कला का ध्येय है। प्रकृति ने मनुष्य को आत्मा से अलंकृत किया है। मानव चैतन्य, जीवन में गूढ़ रूप में वर्तमान रहता है, इस जीवन में वह सांसारिक वस्तुओं के अधीन रहता है। कला, चैतन्य को सांसारिक जगत से स्वतन्त्र कर अपनी स्थिति को समझने योग्य कर देती है। माया द्वारा डाले गये आवरण को हटा कर उस के अपने रूप को प्रकाशित कर देती है। इसी भग्नावरण चित् (चैतन्य) को रस भी कहा गया है। अतः काव्य में रस की स्थिति का अर्थ है सत्यता का प्रतिपादन।

किन्तु कला इस सत्यता को ग्रहण कहाँ से करती है? मानव जीवन और उस के व्यापारों से। यहीं कला का मानसिक पक्ष दीखता है। कला अवश्य ही मन और चेतना के

सहयोग की उपज है। मन का सार सोचने की क्रिया अथवा विचार है। "इस विचारात्मक चैतन्य ही में मन अपने अनुकूल क्रियाशीलता को प्रदर्शित करता है।" अतएव कला का सम्बन्ध हृदय से यद्यपि होता है फिर भी इस में विचारात्मक अंश इतना रहता ही है कि कल्पना युक्तियुक्त हो, वास्तविक जीवन की घटनाओं की साधारण प्रगति के अनुकूल हो। कल्पना में यदि वास्तविक सत्यता कुछ है तो इसी सीमा तक कि संसार में घटनाओं की साधारणतया जो संभवता दीखती है उसी का कला में समावेश किया जाय। अपवादों तथा दैवयोग को छोड़ कर वास्तविक जीवन में जैसी क्रिया दीखती है उसी के अनुसार, अथवा "इतिहास में जिन अनंत शक्तियों की क्रिया सदैव देखी जाती है उन के अस्थाई वस्तु रूप को निकाल कर उन को स्थाई रूप में उचित ऐन्द्रिय स्वरूप दे कर प्रदर्शित करना ही कला का ध्येय है।" इन शक्तियों की क्रिया के साधारण रूप ही में कला की सत्यता प्रतिभासित होती है। इस प्रकार घटना ही के साथ सत्यता का अवश्यंभावित्व नहीं है। कल्पना में तो घटना से अधिक सत्यता होती है। कला की सत्यता तो वही है जो कि मन की उत्पत्ति हो। कल्पनात्मक मन के सामने जो भी दृश्य उपस्थिति हों उन में वास्तविकता है चाहे वे वस्तु रूप हों अथवा भाव रूप।

संसार में ऐन्द्रिय प्रतीति तथा बौद्धिक प्रतीति में विरोध रहा है। ऐन्द्रिय प्रतीति के अनुसार वस्तु का जो स्वरूप दीखता है वह बौद्धिक व्यापार से देखे जाने पर मिथ्या ज्ञात होता है। किन्तु "कलात्मक सौन्दर्य में बौद्धिक आनंद और ऐन्द्रिय आनंद दोनों का सामंजस्य रहता है और इसी सामंजस्य में सत्यता है। कला के तथ्य रूप इस साधारण और विशेष, स्वातंत्र्य और आवश्यकता, आत्मिकता और

वास्तविकता की एकता ही भाव में परिणत हो जाती है और यही वास्तविक सत्य है (हेगल)।" इस दृष्टि से कला की सत्यता आत्मा और वस्तु का समन्वय है, किन्तु हम अभी देखेंगे कि यह कला की सत्यता नहीं है अपितु उस का सौन्दर्य है।

"कला की कृतिया यद्यपि केवल विचार अथवा अविकल्प भाव नहीं हैं किन्तु अविकल्प भाव की अपने में से उत्पत्ति, फिर भी विचारात्मक आत्मा की सशक्तता केवल इसी में नहीं है कि वह स्वयं को अधिक से अधिक प्राकृत रूप में ग्रहण कर लेती है, किन्तु इस में भी कि वह स्वयं को भावों तथा ऐन्द्रिय शरीर से पृथक जान लेती है। जो वह स्वय नहीं है और जिस पर वस्तु का विचार का साधन बना कर वह नये रूप में ढालती है उस से वह अपनी सिद्धि कर लेती है। इस प्रकार वस्तुओं स पृथक हो कर कलाकृति में परम रूप भाव आत्मा स पृथक रहते हैं। कलाकृति तब चिन्तन क्षेत्र का विषय हो जाता है। इस प्रकार मन को अपनी प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि कलाकृति के अन्तरतम भाव युक्ति-युक्त रूप में ढले हों। *यही उस में सत्यता है।*" इस स यह ज्ञात होता है कि सामाजिक की आत्मा, मन के द्वारा क्रिया करती हुई कलाकृति में स अन्तरतम अपनी रूप सत्ता को ग्रहण करती है. यहाँ आत्मा, आत्मा को जानने का प्रयत्न करती है। सामाजिक की आत्मा विषयी हो कर कला वस्तु में अपनी ही आत्मा का प्रतिबिम्ब डाल कर (क्यों कि कला वस्तु में निसर्गत: कोई आत्मा तो है नहीं) उस विषय बना कर उस की उपयुक्तता की जाँच करती है। वास्तव मे यह जाँच आत्मा की नहीं अपितु कलावस्तु का है। वह केवल इस तात्पर्य से कि कलावस्तु जिस भाव को व्यजित

करती है उस में आत्मत्व है या नहीं, वह अपने रूप में पूर्ण स्वतंत्र है या नहीं, कला वस्तु की रचना उस भाव की स्वतंत्रता में विरोध तो उत्पन्न नहीं करती। इस का निश्चय कर के आत्मा, कला वस्तु में अपनी सत्ता का निश्चय कर के परम आनंद की अवस्था को प्राप्त कर लेती है। सामाजिक की भावना जो यों सांसारिक वस्तुओं से सम्बद्ध होने के कारण आबद्ध रहती है विषय को रूप देख कर अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त कर लेती है। आत्मा का सम्बन्ध उस समय जगत रूप कला वस्तु ही से रहता है और यह कला वस्तु स्वयं अपनी सत्ता को न दिखा कर अपने अन्दर की आत्मिक सत्ता ही को दिखाती है। आत्मा का विषय भी आत्मा ही हो जाता है। विषयी और विषय एक होने के कारण विषयी की आबद्धता अपने ही में है। यही स्वतन्त्रता भी है।

कला के अन्दर शिवत्व के विषय में काव्य शास्त्री स्पष्ट नहीं है। कुछ तो शिवत्व का अर्थ यह लेते हैं कि काव्य को शिक्षा प्रद होना चाहिए। अन्य कहते हैं कि शिक्षा देने का काम नीति शास्त्र (ethics) का है, काव्य को इससे क्या लेना। वस्तुतः काव्य का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं है। यदि यह मान लिया जायगा तो कला का वह लक्ष्य हो गया जो उस की सीमा के बाहर है। तब, कला में मानी गई स्वतन्त्रता की संभावना नहीं हो सकती। कला का काम तो सत्य का निदर्शन करना है तथा भाव और वस्तु के विरोधी द्वंद्व में सामंजस्य स्थापित करना है। किन्तु कला में जिस भाव की प्रतीत कराई जाती है उस का मनुष्य के नैतिक जीवन पर कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। कलाकार को देखना है कि प्रभाव मंगलमय हो। इस दृष्टि से कला में शिक्षा का भी समावेश हो जाता है। किन्तु कला की शिक्षा में तथा नीति शास्त्र की शिक्षा की

महान भेद है। "नीति में आत्मिक साधारणत्व में स्थित अहंकार ऐन्द्रिय प्राकृतिक विशेषत्व के विरुद्ध खड़ा हो कर रहता है।" आत्मा, वस्तु को अपर पदार्थ के रूप में देखती है अतएव उसे मानने को एक दम तय्यार नहीं होती। कला में इन दोनों का समन्वय रहता है। नीति शास्त्र में प्रवृत्तियाँ कर्तव्य का विरोध यदि करती हैं तो उन्हें उस के सामने झुकना पड़ेगा। कला में इन दोनों की खींचा तानी नहीं रहती। आत्मा, नीति शास्त्र के बताए हुए कर्तव्य को ग्रहण करना भी यदि चाहे और करे तो यह कर्तव्य सदैव आत्मा से विभिन्न वस्तु रूप विषय ही होना इसलिए आत्मा स्वतन्त्र नहीं होगी। कला में शिक्षा रूप विषय परदेशी वस्तु नहीं है।

कला का ध्येय है अवश्य। बौद्धिक व्यापार तक उस की स्थिति को आवश्यक समझा जाता है। मन और हृदय की ही मानव जीवन में प्रधानता है हमारे समस्त कार्य इन से प्रेरित हो कर चलते हैं। विचार के द्वारा मन को ऊँचा उठाया जाता है। सत असत का ज्ञान कराया जाता है और कल्याण को दृष्टि मे रख कर कार्य निर्धारित किये जाते हैं। कार्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रेरक हृदय है जो कि मन से सदा प्रभावित रहता है। यद्यपि यह केवल रूप में अनुभूति ही का साधन है फिर भी मन द्वारा आक्रान्त होने के कारण इस में भी कल्याण प्रतीति की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यों भी स्वभाव से हम न्याय चाहते हैं उस का समर्थन करते हैं, कल्याण की भावना हम मे प्रकृति की देन है, अतएव मन और हृदय के कल्याणमय होने के कारण उन की कला रूप उत्पत्ति भी कल्याणमय होनी चाहिए। किसी भी कला में हम तीन बातों को देखते हैं, एक तो कला में क्या प्रदर्शित किया गया है, दूसरे किस प्रयोजन से प्रदर्शित किया गया है

और तीसरे कैसे प्रदर्शित किया गया है। कला इन प्रश्नों का उत्तर सत्य, शिव और सुन्दर से देती है। कला के अन्दर जो प्रयोजन है उस में कल्याण की भावना निहित है।

कला के शिवत्व से तात्पर्य यही है कि कला के अन्दर जिन भावों का प्रतिपादन किया जावे वे मिथ्या न हों। सामाजिक को अशुद्ध मार्ग पर न ले जावें। कला, मानव प्रवृत्तियों ही को अपना विषय यदि बनाती है तो विश्व की इन साधारणताओं में अमंगल हो ही नहीं सकता। प्रकृति की देन सदैव मंगलमय है। और प्रकृति की दी हुई प्रवृत्तियों में सद् की प्रवृत्ति भी हमारे अन्दर विशेष रूप से उपस्थित है। काव्य में उस का अन्तर भाव कर देने से शिवत्व और दृढ़ हो जाता है। अतएव यह निश्चित है कि शिक्षा के बिना भी कला में मानव प्रवृत्तियों ही को अन्तरतम भाव यदि रक्खा गया तो वहाँ शिवत्व का अभाव नहीं मान जायगा, जो सत्य है उस में ही शिव भी है और वही सुन्दर है।

शिवत्व के विषय में यह निष्कर्ष निकला कि विश्व के अनंत साधारणत्व में ही सत्यत्व के साथ ही शिवत्व की स्थिति है। इन साधारण मानव प्रवृत्तियों की कला में रचना यदि की गई है तो उस में शिवत्व भी आ जाती है। प्रवृत्ति के मूल में सद् की भावना होने के कारण काव्य में नैतिक शिक्षा भी समंजस रूप में आ जाती है तो यह शिवत्व की ही अग्र प्रसृति है। (इस का एक प्रमाण है। सद् का अर्थ कल्याण अब लिया जाता है किन्तु मूलतः सद् का अर्थ है 'होना'। जिस की स्थिति हो वही सद् है और इसी में मंगल होने के कारण सद् का अर्थ मंगल भी हो गया है।)

सौन्दर्य मन ही की भावना है। कलावस्तु से आत्मा जिस

सार को ग्रहण कर के स्वय में विलीन हो जाती है उस की प्रकटता का कारण सौन्दर्य है। कला में सत्यता और वस्तु का समन्वय ही सौन्दर्य है। कला में वाह्य वस्तुओं का स्वरूप यदि ऐसा है कि ये वस्तुएँ विरोधात्मक न हो कर एक ही भाव की ओर संकेत करती रहें तो वह कृति सुन्दर कहलावेगी। कला के सौन्दर्य का अर्थ ही यह है कि यह मन और प्रकृति की पारस्परिक खींचातानी को मिटा कर दोनों मे समन्वय करा दे। अतः सुन्दर वस्तु का काम चित्त की चरम एकता की ओर संकेत करना है किन्तु इसके लिए ऐसी वास्तविकता का चित्रण करना आवश्यक हो जाता है जो पूर्णतया विषयभूत हो। मन द्वारा ग्रहण किये जाने के लिए उस में सविकल्पता आवश्यक हो जाती है। अतएव सौन्दर्य का अर्थ यह हो जाता है कि इस सविकल्पता से निर्विकल्प चित्र'ही की प्रतीति हो जाय। प्रकृति के अन्दर भाव की सत्ता की प्रतीति जीवन (Life) द्वारा जैसे होती है वैसे ही सविकल्प वस्तु में निर्विकल्प आत्मा की प्रतीति कराने के लिए भी जीवन विशेष की आवश्यकता पड़ती है। कला का यह जीवन सौन्दर्य ही है।

सासारिक जीवन में सुन्दर आदि शब्दो का प्रयोग हम करते ह तो उन का आरोप अविशिष्ट जाति में मानते है। सुन्दर या अच्छा आदि शब्दों का अर्थ हमारी उस धारणा से है जो कि हम ने उन शब्दों के विषय में सासारिक सुन्दर और अच्छी वस्तुओं को देख कर बनाई। अपने लौकिक जीवन में सुन्दर और अच्छी वस्तुएँ हम देखते हैं अथवा यों कहा जाय कि हम कई वस्तुएँ देखते हैं जिन्हें अच्छा और सुन्दर कहा जाता है। अन्वय और व्यतिरेक द्वारा हम उन वस्तुओं को ही साधन मान कर सुन्दर और अच्छा शब्द का अर्थ लगाते है। किन्तु कलाकृति में सौन्दर्य शब्द

का प्रयोग हम जब करते हैं तो हमारा आशय इस जाति विशिष्ट सौन्दर्य से नहीं रहता। यहाँ सौन्दर्य, चित्त की भावना है एक साधारण आनंद है, आत्मा की अवस्था है।

सौन्दर्य से प्रयोजन, वस्तु के प्रत्येक गुण से रहता है जो कि नेत्र में संतोष की लहर उत्पन्न कर दे अर्थात् इस इन्द्रिय के द्वारा आत्मा से एकत्व प्राप्त कर मन को प्रसन्न कर दे। (यहाँ नेत्र के प्रयोग से यह तात्पर्य नहीं है कि सौन्दर्य, नेत्रों के द्वारा अनुभूत ही गुण है। संगीत में भी सौन्दर्य की संभावना है।) विषयी रूप अविकल्प भाव (चित्) से सविकल्प भाव भिन्न है। यह सविकल्प भाव उस की विषय भूत वस्तु है। सांसारिक विषय भूत अन्य वस्तुओं से उस की भिन्नता इसी में है कि चित के सामने विरुद्ध रूप में न आ कर ऐसे रूप में आता है कि चित् उसे अपनी निश्चिति का साधन समझे। संसार में आत्मा के लिये किसी वस्तु की सत्ता यदि है तो तभी जब कि उस में भाव की उपस्थिति हो (क्यों कि भाव का अर्थ ही आत्मा की एक अवस्था State of being है।) प्रकृति में यदि कहीं वास्तविक सत्ता है तो इसलिये नहीं कि उस की अपनी रचना में आन्तरिक या बाह्य विशेषता है बल्कि इसलिये कि उस की स्थिति चित के हेतु उपयुक्त है। अतएव वही वास्तविकता सत्य वास्तविकता है जो कि चित को उचित रूप से प्रकट कर सके। इन्द्रिय ग्राह्य रूप में भाव की इसी प्रकटता का नाम सौन्दर्य है। सौन्दर्य का अर्थ ही यह है कि कलाकृति की वास्तविक स्थिति द्वारा उस भाव की प्रतीति हो जाय जिसे प्रकट करने के लिये उस की रचना की गई थी और वह कलाकृति चेतन प्रमाता के साथ अभिन्न एकता और जीवन की प्रतीति करा दे।

कलाकृति के विभिन्न अवयव भिन्न-भिन्न भावों के संकेत

करते हैं। यदि ये विभिन्न भाव अविरुद्ध हो कर एकता की ओर संकेत करते रहें तो कला वस्तु सुन्दर कहलावेगी। अन्यथा भावों की व्यंजना होने पर भी यदि उन में एकता की ओर निर्देश नहीं है तो वस्तु कुरूप हो जावेगी। इस प्रकार संभव सौन्दर्य ही कुरूपता में परिणत हो जाता है। कला में वाह्य अंतरंगों का विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। ध्यान से यदि देखा जाय तो चित्रों में वे रेखाएँ जिन्हें हम सीधी देखते हैं वास्तव में टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं की शृंखला हैं। ये रेखाएँ टेढ़ी होने पर भी सीधे पन रूप एकता का संकेत करती हैं। कला के लिये यही यथेष्ट है। इस के अतिरिक्त कला में उन्हीं अंगों की रचना की जाती है जो कि प्रकृति के लिये विशेष उपयुक्त हों। वे अंतरंग जो कि प्रकृति में अवश्य विद्यमान रहते हैं किन्तु भाव के लिये जो इतने उपयुक्त नहीं छोड़ दिये जा सकते हैं। (किसी मनुष्य का चित्र बनाने में उसके मुख का चित्र बना देना यथेष्ठ होता है, कोई आवश्यक नहीं कि हाथ पैर भी बनाये जायँ।) साधारण कलाकार का कार्य यही है कि वह अपने विषय को साधारण तथा अनन्त आत्मिक व्यक्तित्व के रूप में समझने तथा प्रतिपादन करने का प्रयास करे। (जहाँ तक समझने का,और प्रतिपादित करने के विचार का प्रश्न है वहाँ तक तो कला में सत्यता है।) और इस व्यक्तित्व का वस्तु से यह संबंध रक्खें कि वस्तु आन्तरिकता की ओर संकेत सदैव करती रहे। प्रतिपादन की इस क्रिया में सौन्दर्य है।) कला में साधारणत्व अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँचाया जाता (क्यों कि वहाँ उस मे निर्विकल्पता आ जाती है,) वह उसी दूरी तक ले जाया जावेगा,जहाँ उस में सविकल्पता के साथ-साथ आन्तरिक के साथ पूर्ण संगति हो।

सत्यत्व, कला में भाव की सत्ता है और सौन्दर्य, भाव की

प्रकटता है। इन में भेद क्या है ? सत्ता का आभास तभी होगा जब कि उस की प्रतीति हो-अन्यथा उस की स्थिति शिवत्व और सौन्दर्य तो विभिन्न दृष्टियों से उस के तीन नाम हैं। सत्यत्व, सत्य होने के कारण शिव भी है और प्रतीत्यात्मक होने के कारण सुन्दर भी है। सत्यत्व और सौन्दर्य में भेद भी कुछ नहीं है। एक उद्दिष्ट भाव है तथा दूसरा प्रतिपादित भाव है। कला के अन्दर उद्दिष्ट भाव की प्रतीति यदि हो जाती है तो उसे हम सुन्दर भी कहने लगते हैं।

इस का प्रमाण हमें वहाँ मिलता है जहाँ कि कला का रूप क्लिष्ट होने के कारण उस में सौन्दर्य हम नहीं देख पाते। यह सामाजिक की दुर्बलता के कारण प्रतिपत्ति का अभाव है जो कि सत्य युक्त कला को भी सुन्दर नहीं देखने देता। उच्च कोटि की कला अत्यन्त गौरव के कारण सुन्दर नहीं दीखती। इसलिए नहीं कि उस में हेयता है अपितु इसलिये कि सामाजिक उस गौरव को ग्रहण करने में असमर्थ है। इस असमर्थता के तीन कारण हो सकते हैं। या तो कला विषय ही जटिल हो अथवा सामाजिक भावास्था पर अधिक देर तक न टिक सके (जैस कि वस्तु की पूर्ण प्रतीति के लिए चाहिए) अथवा कला वस्तु में ऐसे भाव की स्थिति हो जिसे सामाजिक अपनी परंपरा बुद्धि के विरुद्ध पा कर ग्रहण करने में असमर्थ हो।

सत्यत्व, शिवत्व और सौन्दर्य कला ही में क्यों आये, संसार की अन्य वस्तुओं में भी तो इन का समावेश हो सकता था ? इस का उत्तर तो इस में है कि भावों का प्रकाशन तभी हो सकता है जब कि वस्तुएँ अपनी स्थिति छोड़ दें। यह तो कला ही में संभव है कि वस्तु अपनी वास्तविकता को

छोड़ कर निर्विकल्प भाव को सविकल्प रूप में प्रकाशित कर दे। और कला की उत्पत्ति का कारण भी यही है। प्लेटो ही का कहना है कि असली तत्व किसी अच्छे काम, सच्ची सम्मति, पुरुष या सुन्दर रचना में नहीं है किन्तु साधारणतया भलाई, सच्चाई और सौन्दर्य में है। किन्तु ये भलाई इत्यादि निर्विकल्प, अनिश्चयात्मक दार्शनिक विषय हो जाते हैं, प्रतीति के निश्चयात्मक स्वरूप नहीं। इन को भली भाँति जानने के लिये हमें वस्तु विशेष की आवश्यकता पड़ती है जिस में हम उन गुणों की स्थिति दिखा सकें और वह भी इस रूप में कि वस्तु अपनी सत्ता को इन के सम्मुख गौण कर दे। शून्य में गुणों का दिखाना असंभव है (इसलिये मुसलमानों के एकेश्वरवाद में ईश्वर के गुणों की उत्पत्ति हो गई।) इस शून्यात्मक साधारणत्व को किसी वस्तु विशेष में आरोपित कर के दिखाना आवश्यक है। यही कला का रहस्य है।

५—कला-विषय और प्रतीति

प्रकृति के साथ रह कर मनुष्य कई अनुभव करता है। प्रकृति को अपनी संतुष्टि का साधन मान कर उसे अपने उपयोग में लाने के लिए वह क्रियाशील रहता है। प्रकृति के प्रति तत्पर रहते हुए कभी उस के ऊपर प्राकृतिक वस्तु का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है जिस की स्थिति को स्थाई बनाने तथा दूसरों तक पहुँचाने की उस को बड़ी आकांक्षा होती है। कला का विषय स्वयं कला कृति नहीं वरन् वही भावना है जिसे कि मनुष्य, स्थाई बनाना चाहता है। कला की कृति का उपयोग इसीलिए किया जाता है कि उस की वास्तविक सत्ता से उस भावना का व्यंजन हो सके। साथ ही कलाकृति प्राकृतिक वस्तु के लगभग अनुरूप इसलिए होती है उस प्राकृतिक

वस्तु में और उस भावना में अविनाभावी व्यंग्य व्यंजक संबंध रहता है। अतएव कला का विषय भाव है और उस की कृति उस मूल भाव की प्रतीक है। कलाकृति का स्वरूप यदि मूल प्राकृतिक वस्तु से भिन्न रहता है, तो केवल इसी सीमा तक कि कलाकार अपने प्रतीक में अपने लक्ष्य को जितनी पूर्णता से हो सके विनिविष्ट कर दे और कलाकृति भी उस भाव को उतनी ही पूर्णता से अभिव्यंजित कर दे। कला की रचना में व्यापार यह है कि मूल प्राकृतिक वस्तु कलाकार के मस्तिष्क में अपने से सम्बद्ध अनुभूति का चित्र खींच देती है और कलाकार इस चित्र के सहारे दूसरी वस्तु का सृजन करता है जिस में अनुभूति के चित्र का समावेश तो रहता है उस के अतिरिक्त अन्य अनुभावों का भी (जो उस अनुभूति से संबंध रखते हों पर उस प्राकृतिक वस्तु से साक्षात उदय न हुए हों) प्रतिपादन हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि मूल प्राकृतिक वस्तु, अनुभव की उद्दीप्ति कर सकती है तो दूसरी वस्तु की रचना की क्या आवश्यकता है। कारण यह है कि मूल प्राकृतिक वस्तु में वह अनुभूति इस प्रकार व्यंजित नहीं रहती कि हर समय पर वह उस अनुभूति की उत्पत्ति कर सके। मनुष्य के जीवन में कुछ ही क्षण ऐसे आते हैं जब कि भावनात्मकता अधिक होने के कारण वस्तुओं से अन्तरमय भाव को वह ग्रहण कर सकता है। प्राकृतिक वस्तुओं से भाव को ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक अवस्था की आवश्यकता पड़ती है और फिर वस्तुओं स इस की प्रतीति करने की सामर्थ्य भी हर एक में नहीं होती। प्राकृतिक वस्तुएँ हरेक के हृदय में हिलोरें उत्पन्न नहीं करतीं। उस के लिए मनुष्य के अन्दर विशेष प्रतिभा तथा विशेष मानसिक क्षणों की आवश्यकता पड़ती है।

इन के अतिरिक्त कला की रचना में मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है जिस के कारण बच्चा भी प्रकृति की वस्तुओं में उलट फेर करके अपनी सत्ता को निश्चित करना चाहता है।

"विचारगम्य अनन्त साधारणत्व स्वरूप आत्मा ही कला का विषय है।" आत्मा ही कला में प्रदर्शित की जाती है। हमारी भावनाएँ आत्मा ही की विशेष अवस्थिति हैं। किन्तु आत्मा का स्वरूप निर्विकल्प होने के कारण उस में प्रतीति के हेतु उपयुक्त विषयता नहीं होती है इसलिए कला में आत्मा का रूप सविकल्प बनाना पड़ता है। और कला को निश्चित ऐन्द्रिय वस्तु का स्वरूप देना पड़ता है। कला में आत्मा का वह स्वरूप नहीं प्रतिपादित किया जाता है जो कि बुद्धि व्यापार अर्थात् दर्शन का विषय हो। कला में यह शुष्कता नहीं होती। आत्मा का वह स्वरूप उस में है, जिस में कि आत्मा विश्व की साधारण शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। ये साधारण शक्तियाँ आकस्मिक नहीं होतीं, ये प्राकृतिक व्यापार में सदैव एक रूप क्रिया करती हैं। आत्मा ही का रूप होने के कारण ये अनत हैं। आत्मिक स्थितियों में समन्वय पाश्चात्यों की शास्त्रीय Classical) कला में तथा प्राच्यों की प्राचीन मूर्तिकला में दीखती है। (प्राच्यों के साहित्य में तो आत्मा का पूर्ण प्रदर्शन भी हो चुका था।) शास्त्रीय अथवा क्लासिकल कला के अंदर मन तथा इन्द्रिय की जो संगति रही है उस में मन इतनी पूर्णता से प्रदर्शित न हो सका जितना कि चाहिए।[1]

1—"Mind is the infinite subjectivity of the idea which as absolute inwardness, is not capable of freely expanding in its entire independence within the mould of the bodily shape."

"मन, भावना का अनंत विषयित्व रूप है जो पूर्ण आन्तरिकता होने के कारण स्वतन्त्र रूप में पूर्ण प्रसार तब तक नहीं पा सकता जब तक उसे शारीरिक बन्धन में रहना पड़े।" हेगल के इस कथन से स्पष्ट है कि वह इस बात को मानता है कि चित्रकला आदि तक में पूर्ण आन्तरिकता का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, जिस का अर्थ यह है कि काव्य ही रस की उत्पत्ति कर सकते हैं अन्य कलाएँ नहीं। क्लासिकल कला की इस कमी को पूरा करने के लिए उन्मुक्त (रोमांटिक) कला का उदय हुआ (वास्तुकला में प्रतीकात्मक Symbolic मूर्तिकला में क्लासिकल तथा अन्य रोमांटिक कलाएँ हैं। इस रोमांटिक कला ने पुरानी प्रथा को छोड़ कर दूसरा ही शरीर धारण कर के भाव को नई तौर पर प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया। क्लासिकल कला में स्वरूपों की रचना उस भाव के अनुकूल बनाई जाती थी जिस का प्रतिपादन वाञ्छित था। भौतिक पदार्थों में अन्तर अधिक नहीं डाला था। पदार्थ का रूप उसी सीमा तक परिवर्तित किया जाता था जहाँ तक भाव के उपयुक्त वह हो सके। रोमांटिक कला में वास्तविक साधन (कला का शरीर) आत्मिकता का बोध कराने वाली अविनाभावी ऐन्द्रिय वस्तु, जैसे कि मनुष्य की काया, नहीं होती थी किन्तु आत्मा का स्वयं चेतन आंतरिक जीवन ही, गति को प्रदर्शित करने वाली केवल लम्बी चक्करदार पतली रेखाओं आदि के द्वारा उस में व्यक्त होता था। अतएव क्लासिकल कला में भाव अपने अनुकूल शरीर के साथ बद्ध रहता है और भाव की प्रतीति के लिए अविनाभावी स्वरूप को बलात तजने की आवश्यकता पड़ती है। रोमांटिक कला में भाव तथा शरीर का अविनाभावी सम्बन्ध न होने के कारण भाव अपने स्वतंत्र निस्सीम रूप में प्रकाशित होता है। "इस प्रकार रोमांटिक

कला एक प्रकार से कला की सीमा को भी पार कर गई यद्यपि अपनी सीमा अपना स्वरूप होने के कारण वह फिर भी कला है।" कला का विषय इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार अपने शारीरिक रूप को बदल गया।

कला का विषय वही भाव होगा जिस में प्रदर्शित किये जाने की पूर्ण क्षमता हो, अपनी आन्तरिक क्षमता के अतिरिक्त उस में विचार गम्यता भी रहनी चाहिए। आन्तरिक सत्यता के अतिरिक्त बाह्य भी होनी चाहिए जो कि बोध का विषय हो सके, अन्यथा बुद्धि उस की प्रतीति न कर सकने के कारण उस में सत्यता मान ही नहीं सकती। इस के अतिरिक्त कला के विषय में भावनात्मकता तथा साधारणत्व भी होना चाहिए। इस साधारणत्व की प्रतीत के लिए फिर विशेष की ही रचना आवश्यक होती है जहाँ से वह भाव ग्रहण किया जा सके। इस प्रकार कला के विषय में साधारण और विशेष का उचित समन्वय रहता है। ईश्वर का कोई स्वरूप नहीं है फिर भी हमारी समझ में वह तभी आ सकता है जब कि ईशरत्व रूप विशिष्ट गुणों का उस में समावेश किया जाय। साधारणत्व के प्रतिपादन के लिए वस्तु में विशिष्टता डाली जाती है। बहुदेववाद की सृष्टि का भी यही कारण है। एक-एक गुण का आरोप एक-एक में विशिष्ट कर के एक-एक देवता एक-एक गुण का संकेत चिन्ह हो गया। कला का विषय बोध गम्य होना चाहिए। इस के अतिरिक्त भाव का परिधान करने वाली बाह्य वस्तु में भी बोध गम्यता होनी चाहिए। "व्यक्तित्व स्थूलता और आत्मनिर्भरता होनी चाहिए।"

कला का विषय भावना अवश्य है परन्तु कला का साफल्य

इसी में नहीं है कि भावना मात्र का उदय हो। यह काम तो वक्तृता भी कर सकती है। कला में उस के विषय का समावेश इस रूप में हो कि कलाकृति उस का प्रतिपादन सुन्दर रूप में करे। कला में सौन्दर्य रहे। कला के इस विषय की प्रतीति के लिए सामाजिकों में भी एक गुण का होना आवश्यक है वह है सहृदयत्व। कला, मनुष्य की रागात्मक चित्तवृत्ति के लिए होती है। उस का कार्य अनुभूति और कल्पना को सुख देना है। किन्तु इसके अतिरिक्त उसे विचारशील मन से भी सम्बन्ध स्थापित करना है। मन के ऊपर भी अनुकूल प्रभाव डाल कर उसे परितोष देना है। इसीलिए कला का आनंद लेने के लिए सामाजिकों में प्रतिभा की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यदि कहा जाय कि कला का विषय इन्द्रियों को सुख देने वाला है तो इस का अर्थ यह नहीं है। कला में इन्द्रियानुभूति का स्थान स्वयं अपने लिए है। कला की कृतियों में मन, वस्तु से अलग रहता है, इस अर्थ में कि वस्तु को वह अपने स्वतंत्र रूप में रहने देता है। साधारण सांसारिक इच्छाओं के विषय में वस्तु से मन पूर्णतया सम्बद्ध रहता है। मन की स्पृहात्मक प्रवृत्ति वस्तु को अपनी संतुष्टि के लिए उपयोग के हेतु, पूर्णतया नष्ट भी कर देती है। कला में मन वस्तु को उपयोग की सामग्री के रूप में नहीं देखता अपितु उस की स्थिति ही को अपनी संतुष्टि का उपाय समझता है। उसे तो वस्तु द्वारा व्यंजित भाव ही की आवश्यकता रहती है।

कला के विषय की प्रतीति के लिए उस की शरीर-रचना में भी विशेषता की आवश्यकता पड़ती है। विषय और शरीर दोनों का समन्वित समावेश रहता है। आत्मिक प्रदर्शन और बाह्य वस्तु में आत्मिक प्रदर्शन ही प्रधान है दूसरा तो उस के

हेतु उपाय है। इसलिए कलावस्तु संबंधी अंग उन्हीं इन्द्रियों को उपयोग में लाता है जो कि प्रतीति के लिए वस्तु की साक्षात् संगति नहीं ढूंढते। यही कारण है कि गंध, स्वाद और स्पर्श द्वारा प्रतीत होने वाली वस्तुएँ जिन की अनुभूति सम्बद्ध इन्द्रियों की साक्षात् ही से हो सकती है, कला के विषय नहीं हो सकते। इन इन्द्रियों की संगति वस्तु से होने के कारण अनुभूति में वास्तविकता ही रहेगी भावनात्मकता नहीं। प्रत्येक मनुष्य के गंध-स्वाद आदि सविशेष होने के कारण सभी के अन्दर एक साधारण प्रतीति उत्पन्न नहीं कर सकते जो कि कला के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कला के अन्दर तो बराबर यही ध्यान रक्खा जाता है कि मनुष्य का मन, वस्तु की शारीरिक वास्तविकता से सम्बद्ध न हो जाय क्यों कि इस सम्बन्ध में उस की,पराधीनता हो जाती है। कला में तो स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है, उस का सम्बंध वस्तु विशेष से होता ही नहीं है। वह तो स्वयं प्राण है, आत्मा है वस्तु नहीं। घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ तो अपनी संतुष्टि के लिये वास्तविक (वस्तु सम्बंधी) गुण चाहते हैं, उन का परितोष कलात्मक सौन्दर्य से हो भी नहीं सकता। कला का विषय, आत्मा है, प्राण है, चेतन जीवन के गांभीर्य में स्थित मानव आत्मा की प्रतिध्वनि है, वस्तु नहीं। वस्तु कला का विषय ऐन्द्रिय अंग में स्थित आत्मिकता है अथवा कला के अन्दर, इन्द्रिय विषयक रूप में आत्मा प्राण धारण करने लगती है।

कुछ लोगों का कहना है कि केवल कुछ ही वस्तुएँ हैं जो कि कला का विषय उपस्थित कर सकती हैं और कला के हेतु ये उपयुक्त ठहराई जा सकती हैं यह कथन अंशतः ठीक है। यह तो एक दम निश्चय नहीं किया जा सकता कि कुछ

विशिष्ट वस्तुएँ ही कला का विषय उपस्थित करेंगी। एक ही वस्तु एक कलाकार के अन्दर भावना को उत्पत्ति कर सकती है और दूसरे के अन्दर नहीं। हाँ यह सत्य है कि एक ही कलाकार के अंदर कुछ विशिष्ट वस्तुएँ ही अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं। इस का कारण कलाकार की ऐन्द्रिय और मानसिक रचना है किन्तु वहाँ विशिष्टता वस्तुओं के गुण में नहीं बल्कि कलाकार की प्रकृति में है। वस्तु का प्रयोजन कलाकार के लिए होता है, कलाकार का वस्तु के लिए नहीं। वस्तु की प्रधानता होने के व्यंग्य में गौणता आ जाती है जैसे कि हिटलर के स्वस्तिक में अथवा अंग्रेज़ों के 'वी' (V) चिन्ह में। हम सभी संकेतों को मान कर चलते हैं। वस्तु के लिए आवश्यक है कि वह अपने स्वरूप से अथवा उस के अतिरिक्त भी कुछ द्योतित करे, जिस से कलाकार के अन्दर स्थायी रूप से वर्तमान प्रवृत्तियाँ गहरी भावना के रूप में उदित हों। केवल व्यञ्जना से कलात्व नहीं आवेगा। व्यञ्जना ऐसी होनी चाहिए कि वस्तु अपनी स्थिति को व्यंग्य के सामने गौण कर दे। मूल प्रवृत्तियों की स्वयं इतनी प्रधानता है कि वस्तु उस के सामने सदैव ही अप्रधान रहेगी। आत्मा की अवस्था के सामने ज्ञान के विषय सदैव गौण रहते हैं। वस्तु से तात्पर्य यहाँ किसी "[1] मनोवैज्ञानिक वस्तु

1—"........is psycholgical object—a person, scene, thing, action or as readily as abstract idea of some intellectual or moral principle or spiritual state, or the general and consequently abstract concept of a class of objects material in themselves."

से है। कोई मनुष्य, दृश्य, वस्तु क्रिया या किसी बौद्धिक, नैतिक या आध्यात्मिक अवस्था का विचारात्मक भाव, या स्वयं भौतिक रूप में वर्तमान वस्तुओं के किसी प्रभेद का साधारण अतएव विचारात्पर ज्योतित रूप भाव।"

कला का विषय कल्पना द्वारा अधिक पूर्णता से प्रतिपादित किया जा सकता। इस का कारण यह है कि स्मृत चित्र सविशेष होते हैं (कल्पना, स्मृत अनुभवों की नई प्रकार से योजना है।) उन में उन अंगों की स्थिति नहीं होती जो कि भाव के हेतु अनुपयुक्त होते हैं क्यों कि हमारा मन उपादेय वस्तुओं ही को ग्रहण करता है। वर्तमान वस्तु चित्र में अनुपादेय अंगों की स्थिति का भी प्रभाव पड़ जाता है फलतः भाव प्रतीति सबोध हो जाती है। इसीलिए वर्डसवर्थ ने काव्य को, "शान्त अवस्था में स्मृत मनोवेग (भाव वेग) emotions recollected in tranquility) कहा है। 'शान्त' का अर्थ भावनात्मकता की हीनता ,नहीं है अपितु असम्बद्ध अनुभूतियों के विषय में शान्तता है। प्रकृत अग्नि तो सदैव उद्दीप्त रहनी चाहिए। इस व्यापार में भावनाएँ और वस्तुएँ दोनों ही सतन्त्र होनी चाहिएँ, भौतिक मनुष्य से उन का कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। इस परिभाषा का एक और भी कारण हो सकता है। वर्तमान वस्तु तो अपने प्रति कुछ कार्य कराने की आवश्यकता उत्पन्न करती है। संसार में वस्तुओं से हमारा औपभोगिक सम्बन्ध रहता ही है। अतएव वर्तमान की वास्तविकता इन्द्रियों को अपनी ओर खींचती रहेगी जिस से भावात्मक प्रतीति में व्यवधान होता रहेगा। स्मृत चित्र में साक्षात् वास्तविकता न होने के कारण मन केवल भावनात्मक सम्बन्ध ही रक्खेगा।

कला के विषय की पूर्ण प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि बाह्य परिधान में जटिलता न हो। बाह्य परिधान का रूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि मन उस की ही प्रतीति में फँस जाय। उस का स्वरूप निश्चित करने में मन का व्यापार ज्ञानात्मक हो जायगा जो कि भावनात्मकता को गौण कर देगा। वस्तु का बोध विषयक व्यापार भावनात्मक व्यापार पर अधिरूढ़ हो जायगा। वस्तु की अपनी सत्ता इस प्रकार मन के सामने अपनी वास्तविकता ही को उपस्थित कर देगी। अतएव कला में वस्तु का स्वरूप सरल, गम्य भी हो तथा भाव के पूर्णतः अनुकूल भी हो। साथ ही वह भाव जो कि व्यंजित किया जाता हो इतना अधिक आकर्षक हो कि वस्तु का अपना स्वरूप उसे दबा न सके।

कला की कृति स्वयं कलाकार के लिए नहीं होती, वह अधिकतर प्रेक्षक की इन्द्रियों और कल्पना के प्रति निवेदन है। उस की सफलता इसी में है कि सामाजिक के ऊपर वह कितना अनुभूत्यात्मक प्रभाव डाल सकती है। कलाकृति की सत्ता मानसिक आनंद की उत्पत्ति में है। अपनी स्वयं स्थिति से उसे प्रयोजन ही क्या। अतएव कलाकार की उत्पादक क्रियाशीलता स्वभावतः सामाजिकों की ग्रहणात्मक किया का मुँह देखा करती है। कला की कृति का अर्थ अनुभूति की उत्पादकता है और कला कृति के विषय में यदि कोई मत स्थिर किया जावेगा तो इसी लक्ष्य से कि उस की प्रतीति कितनी प्रभावोत्पादक है।

कला-विषय की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा अवश्य होती है किन्तु उस के बोध में व्यापार भिन्न हो जाता है। इन्द्रियाँ साधन मात्र हो कर स्वरूप को मन तक भेज देती हैं, स्वरूप के प्रति अपनी किया का आभास नहीं देती हैं क्यों कि मन

निश्चेष्ट होने के कारण इसे ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं रहता। इन्द्रियाँ यदि अपने व्यापार को भी मन तक पहुँचातीं तो गंध, स्वाद आदि से युक्त वस्तुएँ भी कला के अन्तर्गत हो सकतीं। १ कान्ट के अनुसार कला का बोध विवेक बुद्धि अथवा ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा नहीं होता किन्तु बुद्धि और प्रतिभा की स्वतंत्र क्रिया द्वारा होता है। ज्ञान की भिन्न शक्तियों के इस प्रकार साथ कार्य करने पर ही वैयक्तिक चेतना और उस के संतोष तथा आनंद की भावना से वस्तु अपना सम्बंध स्थिर कर सकती है।" इस की प्रतीति में सहृदयत्व और प्रतिभा की आवश्यक्ता अभिनव गुप्त ने भी बताई है। कलात्मक आनंद में (जो कि भारतीय दृष्टि से केवल काव्य में रस रूप में रहता है) मन और बुद्धि कार्य नहीं करते। मन का स्थान प्रतिभा ले लेती है और बुद्धि का स्थान सहृदयत्व लेता है। उस समय मन और बुद्धि विवेचनशील नहीं रहते। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने स्वतंत्र रूप से अलग अलग कार्य किया है और एक ही निश्चय पर वे पहुँचे।

अस्तु, कला की प्रतीति एक विशेष प्रतीति है जो साधारण प्रतीति से भिन्न है। और इस भिन्नता का कारण यही है

1—"According to Kant, aesthetic judgement does not proceed from understanding (faculty of ideas) or from the sensuous perception but from the free play of understanding and intelligence. In this common agreement of the faculties of knowledge, the object finds its relation to the individual consciousness, and its feeling of pleasure and contentment."

कि कलावस्तु को हम उस दृष्टि से नहीं देखते जिस से हम और वस्तुओं को देखते हैं। वरन् यह क्यों न कहा जाय कि कलावस्तु के शरीर की रचना ऐन्द्रिय प्रतीति के समक्ष आती हुई भी अपनी विशेषता के कारण मन को भिन्न व्यापार करने के लिए बाध्य कर देती है। आत्मा के लिए भोजन उपस्थित कर मन आदि को वह गौण करा देती है। आत्मा, पदार्थों को तब मन और बुद्धि के द्वारा नहीं देखना चाहती है। वह इन को निष्क्रिय करा के इन से ऐसा काम लेती है कि उस की स्वतंत्र सत्ता में ये बाधा नहीं पहुँचा सकें।

६—साधारण और विशेष

प्रकृति के अनुभव में यद्यपि हमें विरोधात्मक वस्तुएँ मिलती हैं फिर भी हम देखते हैं कि समस्त कार्यों के अन्दर कुछ अन्तर्धाराएँ सदैव एक रूप चलती रहती हैं। दूसरे के दुःखों को देख कर साधारणतया प्रत्येक का हृदय दुखी हो जाता है। अपने से भिन्न लिंग के प्राणियों को देख कर प्रत्येक उस के प्रति आकर्षित होता है। संसार में वस्तुओं का जो रूप दीखता है उस से भिन्न रूप हमारे अन्दर हँसी पैदा कर देता है। वही यदि हमारी समझ में नहीं आ सकता और हम उसके विषय में मति स्थिर नहीं कर सकते, हमारे अंदर भय उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार अपवादों को यदि अलग कर दिया जाय तो हमें संसार में कुछ ऐसे भाव मिल जावेंगे जो स्थाई रूप से एक ही ओर गति प्राप्त करते हैं। वस्तुओं की सत्ता के विषय में स्थायित्व नहीं देखा जाता। क्यों कि वस्तुओं में परिवर्तनशीलता है। यह तो माया का अंश है। संसार का यह परिवर्तन यदि रुक जावेगा तो सब से बड़ा परिवर्तन (प्रलय) हो जावेगा, जिस का एक छोटा सा रूप

हम अपनी कलाकृति में लाने का उद्योग करते हैं। (प्रलय डरने की वस्तु नहीं है, पुरुष और प्रकृति का लय ही प्रलय है।) अस्तु, संसार के इन साधारण भावों को जिन्हें हम मूल मानव प्रवृत्ति भी कह सकते हैं (क्यों कि हम, मानव दृष्टि और युक्ति से ही सब वस्तुओं को परखते हैं) हम प्रति पादित करने का प्रयत्न किया करते हैं। संसार के प्रत्येक पदार्थ को खोज खोज कर, उस का विवेचना कर कर के हम थक जावेंगे किन्तु हम उस आनंद को प्राप्त नहीं कर सकते जो हमें इष्ट है। इन मूल प्रवृत्तियों को जो कि आत्मा की धर्म हैं हम विषयगत (realize) करना चाहते हैं, क्यों कि उसी के द्वारा आत्मा अपनी सत्ता का निश्चय कर सकती है। और इन का विषयगतत्व संसार के पदार्थों में से निकाल निकाल कर नहीं किया जा सकता, क्यों कि मन को बौद्धिक व्यापार लगाना पड़ता है, स्वयं विवेचनशील होना पड़ता है, और मन की सक्रियता में आत्मा स्वयं स्वतंत्र नहीं हो सकती इसलिए इन साधारणों को एक ही विशेष में आरोपित कर के हम शीघ्र ही अपना मतलब निकाल लेते हैं। और इतना ही नहीं कि मूल प्रवृत्ति की परिचायक एक ही वस्तु हो जाती है अपितु वस्तु का स्वयं ऐसा रूप बना दिया जाता है कि वह अपनी विशिष्टता को छोड़ कर साधारणत्व ही की प्रतिपत्ति करावे।

साधारण को विशेष में ढालने की और कोई आवश्यकता नहीं होती। हमारा तो तात्पर्य यही रहता है कि व्यक्ति में आरोप कर के हम साधारण की सत्ता को निश्चयात्मक बना सकें। प्रकृति के अंदर हम साधारण और विशेष में सदैव, अंतर पाते हैं। साधारणत्व का निवास वहाँ विशेष में नहीं रहता। यह तो हमारा काम है कि विशेषों की विशेषता

प्रथक कर के उन में एक ही सूत्र को खोजने का प्रयत्न करें और फिर उस सूत्र को विषयात्मक विशेष का रूप दे दें। कला का उत्कर्ष इसी में है कि संसार में पाई जाने वाली साधारण और विशेष सत्ता की विभाजक रेखा का अस्तित्व मिटा दिया जाय। तब आत्मा अपनी सत्ता का निश्चय कर के मानव जीवन की प्रयोजनवत्ता लक्षित करती है। इसके अतिरिक्त हम भी साधारण को वस्तुओं ही में से निकालने के कारण उन वस्तुओं की असली प्रयोजनवत्ता को समझ सकते हैं।

"[1] प्राण के स्रोतों–अथवा साधारण शक्तियाँ–की प्रतीति सहज साधरण रूप में होनी चाहिये। यद्यपि कार्य की वास्तविकता को देखते हुए वे भाव ही के रूप हैं। उन को तो स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वरूप दिया जाना चाहिए। ऐसा न किया जायगा तो वे केवल भाव के साधारण रूप अथवा विचारात्पर जाति रूप भाव रहेंगे जो कि कला के विषय नहीं हो सकते।" यह स्पष्ट ही है कि ये साधारण जिनको हम कला में प्रतिपादित करते हैं हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। विशेषों

1—"The sources of energy (universal forces) must not appear in their inherent universality, albeit within the reality of the action they are essential phases of the idea. Rather they must receive the form of independent individuals, If this were not so they would remain as merly the universals of thought or abstract conceptions which donot properly fall within the province of art."

की विशेषता के अन्दर से निकाला हुआ सूत्र जाति रूप भाव के समान है। (जो कि विशेष भावों से संग्रहीत किया जाता है)। स्वयं कोई रूप न होने के कारण इस की प्रतीति किसी विशेष ही में डाल कर कराई जा सकती है। उस की निश्चित स्वयं पूर्णता तभी हो सकती है जब आत्मा की ओर संकेत करता हुआ वह विशिष्ट दीखे।

विज्ञान में वस्तुओं के गुण जानकर साधारण (universal) बनाए जाते हैं। इसी से उस के व्यापार की विश्रान्ति हो जाती है। कला में साधारण को ग्रहण कर के वस्तु में आरोपित कर दिया जाता है। विज्ञान में वस्तु से और उस के स्वरूप से तात्पर्य रहता है, रूप रंग देखे जाते हैं और उन से साधारण निकाला जाता है। कला में यही देखा जाता है कि वस्तु का रूप रंग क्या संकेत करता है। विज्ञान में और कला की प्राथमिक अवस्था में—दोनों ही में—साधारण ढूँढा जाता है फिर भी उन में अंतर है। विज्ञान में वस्तु विषयक साधारण निकाला जाता है और कला में वस्तु से व्यंजित भाव रूप साधारण। कला में विशेष प्रयोजन तो इस साधारण ही से रहता है विशेष की आवश्यकता तो इसीलिए पड़ती है कि उसे विचारगम्य करना होता है। जब विशेष के अन्दर साधारण का आरोप किया जाता है और विशेष गौण कर दिया जाता है तब आत्मा साधारण से संबंध स्थापित कर लेती है। विचारात्मक चैतन्य की स्वतंत्रता के कारण हम वस्तु की वास्तविकता और शान्तता से मुँह मोड़ लेते हैं और वस्तु भी अपनी सत्ता को इस लिए भुला देती है कि वहाँ उस की शान्त वास्तविकता और उस को समझने वाली शक्ति दोनों का समन्वय रहता है।

७—ताल-सुषमा आदि

कला का बाह्य स्वरूप आन्तरिक भाव का संकेत करने के लिए बनाया जाता है किन्तु उस का काम केवल यहीं नहीं है। वस्तु का स्वरूप अन्तरतम भाव के अतिरिक्त अन्य भावों का भी संकेत करता है जो स्वयं गौण हो कर आन्तरिक भाव की पुष्टि करते हैं। इनकी उत्पत्ति वाह्य वस्तु की अपनी रचना के कारण होती है, वाह्य वस्तु में अलंकारता होती है तो वह ऐसे आनंद की उत्पत्ति करती है जो कि आन्तरिक भाव के विरुद्ध नहीं बैठता।

कला वस्तु में सौन्दर्य दो प्रकार का होता है। एक तो उसके द्वारा व्यंजित भाव का सौन्दर्य और दूसरा उस का अपने स्वरूप का, अपनी रचना का सौन्दर्य, काव्य में इन्हीं को रस, भाव, अलंकार का नाम दिया गया है। व्यंग्य सौन्दर्य रस-गुण आदि हैं और स्वरूप (शब्द तथा काव्य अर्थ) का सौन्दर्य, अलंकार है,

प्रधानतः मूर्तकलाओं में समता (Uniformity), सुषमा (Symmetry) तथा समन्वय (Harmony) ही उस के अलंकार हैं। वस्तु के ये गुण हमारे अन्दर आनंदमयी भावना का संचार करते हैं। इनमें वास्तविकता रहती है और यह वास्तविकता ऐसी है कि अपने आकर्षण अधिक होने के कारण यह हमारे मन का सम्बन्ध इतर जगत से हटा कर अपने ही में केन्द्रित कर लेती है। और वास्तविक जगत से इसका अधिक आकर्षक होना भी आवश्यक है। ये गुण हमने प्रकृति ही से सीखे हैं। प्रकृति में जिन वस्तुओं में हम ने इनका आभास पाया, वे और वस्तुओं से अधिक सुन्दर थीं। किन्तु प्रकृति की इन वस्तुओं में वे गुण अपूर्ण रूप हो

में प्रकट होते रहे, (कला में इनको हम पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं)। मनुष्य के मन को ये केवल अपनी ओर खींच लेते हैं तो आनन्द की भावना का उद्रेक करने के साथ ही साथ ये मन को वस्तु की आन्तरिक भावना को ग्रहण करने लिए उपयुक्त अवस्था में कर देते हैं। मनुष्य का मन वास्तविक जगत से हट कर वस्तु ही के गुणों को अंगीकार करने के लिए तत्पर हो जाता है, ऐसे समय में वस्तु का आन्तरिक भाव यदि अधिक प्रभावशाली होगा तो वह वास्तविक वस्तु सम्बन्धी रचना के आनंद को अप्रधान करके स्वयं विशेष रूप से व्यंग होगा, वस्तु के स्वरूप द्वारा उपात्त आनंद का अनुगामी होकर सहायक ही रहेगा। अस्तु, कला में स्वरूप सौन्दर्य से कोई हानि ही नहीं अपितु यदि वह मूल भाव के अधीन रहे तो लाभ ही है। यदि उस का रचनात्मक सौन्दर्य व्यंजित भाव को दबा देता है तो कलाकृति अवश्य ही नट की लीला दीखेगी।

मूर्त कलाओं में वस्तु के साकार रूप में अवश्यम्भावित्व के कारण (अर्थात् भाव की प्रतीति के लिए उस के स्वरूप की स्थिति निरंतर आवश्यक होने के कारण) गुणीभूत व्यंग्यता होती है। स्वरूप में अलंकारता अधिक होने के कारण और भाव के अप्रधान होने के कारण भी गुणीभूत व्यंग्यता होती है। तो फिर उन दो मूर्त कृतियों में क्या भेद रहा। जहाँ एक में स्वरूप की अलकारता भाव की गौण है तथा दूसरी में भाव गौण हो जाते हैं। वस्तु की मूर्त्तता तो यों ही गुणीभूत व्यंग्यता उत्पन्न कर देती है। अलंकारता जहाँ गौण है वहाँ, भाव की प्रधानता तो है ही किन्तु उस की प्रधानता में केवल स्वतंत्रता नहीं है। अधिक से अधिक, भाव को अपनी सिद्धि के लिए अपने शरीर की स्थिति का मुँह देखना

पड़ता है। दास है किन्तु चमत्कार युक्त प्रतिभा सहित; और वह भी औरों का नहीं अपने पेट का। जहाँ स्वरूप की अलंकारता प्रधान हो जाती है वहाँ व्यंग्य भाव अन्य का अनुचर हो जाता है। कभी-कभी तो स्वरूप की अलंकारता में फँस जाने के कारण कलाकार भाव को भुला ही देता है, जिस से कला की कृति में असली कलात्व भी नहीं रह जाता।

समता, सुषमा 'आदि हमें सुन्दर लगते हैं। क्यों? इस का कोई निश्चित कारण नहीं दिया जा सकता। ये वस्तु के वे गुण हैं जो कि बौद्धिक व्यापार के विवेचना के बिना ही हमारी आँखों को सन्तोष देते हैं। फिर भी स्वरूप के इन गुणों की प्रभावोत्पादकता के कारण ढूंढे जा सकते हैं। सीधी रेखा में सब से अधिक समता है क्यों कि उस से एक निरन्तर अबाध दिशा का संकेत होता है, किन्तु स्वरूप एक ही अनिश्चित समता के रूप में नहीं रह सकता। उस में से इस अनिश्चित को हटाना आवश्यक हो जाता है। शून्य समता को निश्चयात्मक समता बनाने के लिए बीच में असम द्वारा संबंध स्थापित कर के निरन्तरता हटा दी जाती है। इस प्रकार सुषमा की उत्पत्ति होती है। सुषमा में उसी रूप को निरंतर न रख कर दूसरे रूप को पहिले से भिन्न कर के फिर पहले और दूसरे की आवृत्ति कर दी जाती है। प्रत्येक रूप इस प्रकार ससीम हो कर एक दूसरे के विरुद्ध आ कर भी अपनी दिशा के नैरन्तर्य को द्योतित करता रहता है। समन्वय (*Harmony*) में प्रत्येक अंग एक दूसरे से भिन्न होता है। रूपों की आवृत्ति कहीं नहीं होती फिर भी ये अंग ऐसे रूप को धारण करते हैं कि वे एक ही स्रोत की धाराएँ दीखें। ये भिन्नताएँ एक दूसरे से विरुद्ध रह कर भी ऐसे ऐक्य में बँधी रहती हैं कि समस्त विभिन्न गुण अपने समुचित स्थान पर

रह कर एक ही के अंग दीखते हैं। भिन्नताओं की एकता ही का नाम समन्वय है। राग एक के विभिन्न स्वर भिन्न रूप होते हैं। 'स' का रूप 'रे' से भिन्न होता है। फिर भी ये स्वर आपस में ऐसे बँधे रहते हैं कि वे एक ही राग के अंग दीखते हैं, अपनी स्वतंत्र स्थिति का आभास ही नहीं देते।

चित्र कला में रंग और रेखाएँ स्वरूप के बाह्य भेद हैं। रूप चित्र (Pattern) और गति (rhythm) का भी यही स्थान है। इन का भावनात्मक प्रभाव होता है। यह क्यों होता है, इस का उत्तर तो हमारे शरीर रचना विज्ञान वेत्ता ही ठीक ठीक दे सकते हैं। इन का काम हमारे औत्सुक्य रूप मन को संतुष्ट करके अपनी ही ओर आकर्षित करना है, जैसा कि वास्तु कला में समता और सुषमा करती हैं। संगीत और काव्य में इन बाह्य रूपों को प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। हम प्रति दिन के अनुभव में देखते हैं कि तबले की थाप या घड़ी की टिकटिक हमारे मस्तिष्क पर निश्चेष्टता लाती है। काव्य में छन्दों का भी यही काम है। और कविता गद्य से अच्छी इसीलिये होती है कि कविता में मनुष्य का मस्तिष्क बाह्य जगत से पूर्ण विच्छेद कर के लय की अवस्था में हो जाता है। मनुष्य का इतर जगत से सम्बन्ध टूट जाने पर काव्य के प्रधान अर्थ ही की ओर दृष्टि रहता है, इस लिए कविता का प्रभाव अधिक गम्भीरता से पड़ता है।

गति, आनन्दमय हृदय की शारीरिक प्रक्रिया होने के कारण हृदय से अधिक सम्बद्ध रहती है अत्यधिक भावोत्तेजना होने पर हम बैठे नहीं रह सकते। हमें शारीरिक क्रिया करनी पड़ती है। कहा जाता है भावोद्रेक के साथ, रक्त में मिष्ट (Sugar) अधिक आने लगता है। मिष्ट एक प्रकार की प्राण शक्ति (Energy) है। वह अपने को प्रकट किये

बिना नहीं रह सकती। इसलिए आदमी को शारीरिक क्रिया करनी पड़ती है। तभी तो अधिक क्रोध आने पर, जिस पर क्रोध आता है आदमी उस के थप्पड़ जमा देता है। डाक्टरों का तो यह भी कहना है कि क्रोध में चुप नहीं बैठना चाहिए, तकिए ही पर हाथ पैर चला लेने चाहिए। अस्तु, भावोद्रेक और शारीरिक गति सम्बद्ध हैं। भावोद्रेक से शारीरिक गति की उत्पत्ति होती है तो गति से भी भावोद्रेक किया जा सकता है। इसीलिए नृत (न कि नृत्य जिस में भाव समिश्रित रहता है) को भी कला में स्थान दिया गया है। ताल और लय पर आश्रित पादों की यह गति, भावों की उत्पत्ति नृत्य के समान यद्यपि नहीं कर सकती, फिर भी मन को विस्मृति की अवस्था में डाल कर आनंद तो अवश्य उत्पन्न कर सकती है।

गति भी ताल के अनुकूल चलने पर सफल रहती है। मनुष्य जीवन में ताल का प्राधान्य है। मनुष्य जीवन ही में क्यों प्रकृति में भी ताल के अनुसार गति रहती है। सागर में लहरें एक के बाद एक उठती हैं। किनारे से आकर टकराती हैं, सब तालानुसार। नदी के कलकल में भी ताल है। पृथ्वी भी ताल ही का अनुसरण कर चक्कर लगाती है। चौबीस घण्टे और तीन सौ पैंसठ सही एक बटे चार दिन ही में उस के चक्कर लगते हैं, कम अथवा अधिक में नहीं। मनुष्य के शरीर की भी रचना ऐसी ही है। उस की सब क्रियाएँ नियमित गति से होती हैं। हृदय की गति का मनुष्य के भावों से निकट सम्बन्ध है, अत्यधिक भावनात्मकता के साथ मनुष्य के हृदय की गति भी तीव्र होती जाती है। इसी को देख कर हम ने यह अनुमान किया कि बाह्य गति के अनुसार हृदय के अंदर भावनाओं का संचार हम कर सकेंगे। इसीलिए

जहाँ दीप्ति (Elation) की आवश्यकता होती है वहाँ द्रुत-विलम्बित अथवा द्रुत गति वाले अन्य छन्दों का प्रयोग हम करते हैं। वीर रस के काव्यों में शान्त प्रवाह न रख कर भावना के अनुसार तीव्र गति ही का ध्यान रखते हैं। शृंगार की अवस्था में हृदय की गति में तीव्रता नहीं होती। शान्त प्रवाह की आवश्यकता वहाँ होती है इसलिए गति भी शान्त रक्खी जाती है। नृत्य और संगीत में तो यह बात और भी स्पष्ट रूप से देखी जाती है इन का आरम्भ विलम्बित ताल में किया जाता है। शनैः शनैः भावना को ऊपर उठाते हुए गति द्रुत कर दी जाती है। नृत्य और संगीत का सब से अधिक आनंद तभी आता है जब कि गति में तीव्रता हो। किन्तु इस अवस्था में हृदय को धीरे धीरे लाया जाता है। सोते हुए हृदय को चौंक कर जागने में कोई लाभ नहीं है। इसी लिए आरंभ में ताल द्रुतात्मक नहीं होता।

वास्तुकला की समता के अनुसार संगीत और नृत्य में ताल की समता इष्ट नहीं है। यहाँ भी विषय का व्यवधान देना आवश्यक है। गति के सदैव एक ही प्रकार से चलने में मस्तिष्क के अन्दर निश्चेष्टता न हो कर या तो सुषुप्ति आ जाती है या मन ऊब ही जाता है। घड़ी की टिक टिक निरन्तर समान रूप से चलने के कारण हमारे अन्दर इष्ट फल की उत्पत्ति नहीं कर सकती। अधिकाधिक विस्मृति उत्पन्न करने के लिए समता के बाद यहाँ भी विषमता डाल देते हैं। संगीत के 'सम' को ग्रहण करने के लिए 'विषम' अथवा 'खाली' की आवश्यकता पड़ती है। यों तो त्रिताल के 'धा धिन् धिन् धा' ही में तबले के शब्द दो रूप के कर दिये हैं फिर भी 'धा धिन् धिन् धा' की आवृत्ति न हो कर 'धा तिन् तिन् ता' और 'ता धिन् धिन् ता' कर दिया जाता है। इतनी विषमता

तो 'ठेके' ही में है। इस कारण मन ऊब भी नहीं सकता। इस के अतिरिक्त तबला बजाने वाले 'ठेके' को छोड़ कर, 'टुकड़े', 'परन' आदि लगा कर गति में नियम रखते हुए निरंतर शून्य समता को दूर कर देते हैं। संगीत के अन्दर 'सम' का दूसरा प्रयोजन भी है। तान के बाद ठीक सम पर आ जाने में मस्तिष्क एक कार्य की सफलता का आनंद प्राप्त करता है। विश्रान्ति रुचि कर अधिक तभी लगती है जब कि परिश्रम सफल हो गया हो। यही नृत्य में भी होता है।

कविता में छन्दों का प्रयोजन भी यही है। संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने ताल के प्राधान्य को खूब समझा था। हिन्दी ने संस्कृत का अनुसरण किया, यह उस का सौभाग्य था। बल्कि हम तो यह देखते हैं कि मात्रिक छन्दों की अपेक्षा वार्त्तिक छंदों का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता है क्यों कि उन के अन्दर तालात्मकता अधिक है। अंग्रेजी कविताओं में सौनेट (Sonnet) में औक्टेव (Octave) के बाद स्यस्टेट् (Sestet) रक्खा जाता है तथा प्रत्येक पंक्ति में ह्रस्व और दीर्घ एक दूसरे के बाद चलते रहते हैं। गद्य तक के पढ़ने में वाणी को ऊँचा और नीचा करने का अर्थ ही यह है कि ऐसी एक रूप समता न हो जिस से मन ऊब जाय।

संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने तो प्रत्येक अक्षर पर ध्यान दिया है। ट ठ ड ढ ण प इत्यादि शृंगार काव्य के हेतु उपयुक्त नहीं हैं और वीर में इन का अंतर्भाव होना चाहिए इत्यादि उन के नियमों में युक्तित्व है, और हमारे यहाँ के बड़े कवियों ने इस का अनुसरण भी किया है। संघटना और वृत्ति किस ढंग से होनी चाहिएँ आदि, काव्य के बाह्य अंग

के विषय में नियम बनाने का तात्पर्य ही यह था कि काव्य के अंतरतम भावों का पूर्ण निर्देश किस प्रकार से हो सकेगा [१]।

अतएव छन्द आदि कविता के बन्धन नहीं हैं। अन्तरतम भाव को ग्रहण करने के लिए मन को वाञ्छित अवस्था में डालने वाले साधनों को बंधन मानना युक्ति संगत नहीं है। वाह्य अंग को उचित रूप देने ही में कलात्व है और यदि इस में कुछ परेशानी उठानी पड़े तो लक्ष्य सिद्धि के लालच से हमें उस की विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

८—कला और अनुकृति

अरस्तू ने कला की आत्मा (इमिटेशन) अनुकृति में मानी है। धनंजय ने भी नाट्य को अनुकृति माना है (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम) भरत मुनि भी नाटक में अनुव्यवसाय ही को प्राण मानते हैं। साधारणतया अनुकृति अथवा 'इमिटेशन' में मूल वस्तु का वाह्यरूप ही प्रदर्शित किया जाता है। और इस के लिए आवश्यक है कि अनुकर्त्ता मूल वस्तु को सम्मुख रक्खे तथा उस देख कर, उस के वाह्यरूप को देख कर, जैसे की तैसी दूसरी वस्तु बना डाले। मूल वस्तु की वास्तविक स्थिति के बिना अनुकृति सम्भव नहीं है। और जब इस वस्तु की नकल उतर आती है तो वह अनुकृत वस्तु सारत मूल से भिन्न रहेगी। उस का रूप तो यही प्रदर्शित करेगा कि वह मूल वस्तु ही है किन्तु उस के अन्तर में प्रवेश करने पर भेद का पता लगेगा, अर्थात् वह अनुकृत वस्तु अपने रूप से प्रेक्षक में केवल धोखा उत्पन्न कर सकती है। किन्तु कला की अनुकृति इस लौकिक अनुकृति से भिन्न है। कला में सार

१—देखिए—'ध्वन्यालोक'

की अनुकृति की जाती है और वह भी इस प्रकार कि मूल की समस्त अनुपयोगी विशेषताएँ दूर कर केवल उपयोगी विशेषताओं का एकीकरण किया जाय। कला में प्रयुक्त अनुकृति शब्द का वह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए जो जगत की सामान्य वस्तुओं के विषय में होता है। यों तो अनुकृति (इमिटेशन) में पदार्थ के स्वरूप ही का अनुकरण होता है, वस्तु का सारतत्व ग्रहण नहीं किया जाता। नकली मोती भी बनाये जाते हैं किन्तु उनमें जात्यत्व नहीं रहता जो कि रत्न का वास्तविक रत्नत्व है। इसीलिए बहुत से विद्वानों ने अनुकृति को कला का प्राण नहीं माना है और अरस्तू आदि की कला की परिभाषा को नहीं माना।

अनुकृति का कला में सामान्य अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए। अरस्तू आदि ने भी अनुकृति का जिस अर्थ में प्रयोग किया उसे स्पष्ट कर दिया। यदि इस पर भी उन को दोषी ठहराया जाय तो उन के प्रति अन्याय होगा। और फिर कला में अनुकृति का अर्थ स्वयं ही बदल जाता है। यदि हम कहें कि अमुक ने अमुक गीत की बिलकुल सही नकल कर ली है तो इस का अर्थ क्या यह लगाया जाय कि वह उस गीत से उतना आनन्द उत्पन्न नहीं कर पावेगा जितना मूल से होता था। कला की अनुकृति में स्वयं ही मूल भाव का—सारतत्व का समावेश हो जाता है।

यद्यपि अरस्तू का कहना है कि कला की कृति मूल की अनुरूपता अथवा अनुव्यवसाय है, उस का सांकेतिक प्रदर्शन नहीं, तो इन से यह समझना चाहिए कि मूल का अर्थ ही भाव है, वस्तु नहीं। क्यों कि बाद में वह स्वयं कहता ही है कि कला की कृति मूल की अनुकृति उस रूप में नहीं करती

जिस रूप में वह मूल स्वयं रहता है किन्तु जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है। और इन्द्रियों की प्रतीत भावात्मक बतायी ही जा चुकी है। यह स्पष्ट है कि वस्तु की अनुरूपता नहीं की जाती है, वस्तु से जो ग्रहण किया जाता है, वस्तु की इन्द्रियों द्वारा प्रतीति में जो व्यंजित होता है उसी को दूसरा स्वरूप दिया जाता है।

धनंजय का 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम' तो और भी स्पष्ट है। यदि नाटक किसी वास्तविक अवस्था (घटना) की अनुकृति भी मान लिया जाय तो उस में कोई दोष नहीं है। राम का जीवन जैसा रहा होगा वैसा ही यदि रंगमच पर प्रदर्शित कर दिया जाय तो उस से रस की उत्पत्ति हो ही जायगी। ऐतिहासिक नाटकों को हम पूर्णतया घटनात्मक भी रख सकते हैं। उस में हमें यदि सुधार करना पड़ेगा तो यही कि निष्प्रयोजन घटनाओं को हटा दिया जाय। यह परिभाषा के विरुद्ध तो बैठता नहीं। परन्तु धनजय का भी तात्पर्य अनुकृति से यह नहीं है। उस के अनुसार कथावस्तु कल्पित तथा ऐतिहासिक दोनों हो सकता है और उस का आशय स्पष्ट है कि नाटक म रसोद्दीपकता होनी चाहिए। अतएव कला में अनुकृति प्रयुक्त हाने पर सामान्य अर्थ को धारण ही नहीं करती।

कलात्मक अनुकृति की प्रतिभा केवल इन्द्रियग्राह्यता नहीं है। इन्द्रियग्राह्यता तो केवल मूल का ढाँचा उपस्थित कर सकती है। कलाकृति की रचना करने में और उस की प्रतीति कर ने में मन भिन्न रूप से काम करता है। प्रतीति में तो मन निष्क्रिय रहता है किन्तु उत्पत्ति में उस उपयुक्त अंगों को ला कर उस मूल के ढाँचे से जाड़ना पड़ता है। अतएव अनुकृति

की प्रतिमा इन्द्रिय-ज्ञान तथा विचार के मध्य में बसने वाली शक्ति है जिस के द्वारा हम मस्तिष्क में पूर्व उपस्थित चित्रों को जोड़ने के साथ-साथ कुछ विचारात्मक क्रियाओं का भी उपयोग करते हैं। बुद्धि का काम यह है कि कल्पना के द्वारा लाये हुए इन चित्र में से कुछ भाव अथवा साधारण तत्व निकाल ले। जहाँ तक अनुकृति में कल्पनात्मकता है वहाँ तक तो उस की शक्ति ऐन्द्रिय अनुभूति का फल है क्यों कि कल्पना, प्रतीत चित्रों का एक नया समन्वित एकत्रीकरण है जिस में सब विभिन्न चित्रों में एकता हो और जो इस नये रूप को ग्रहण कर ने पर प्राचीन के रूप में न पहचाना जाय। और कल्पनात्मकता अनुकृति में भावात्मकता इस लिए अधिक होती है कि पूर्व की प्रतीति वस्तुओं की वास्तविक स्थिति के स्थान पर मस्तिष्क में उन का भावात्मक प्रभाव ही रह सकता है जिस का उपयोग करने पर ऐन्द्रिय वास्त-विकता नहीं होगी।

किन्तु अनुकृति की वस्तु फिर भी तर्कबुद्धि का विषय नहीं है। उस में यद्यपि ऐन्द्रिय वास्तविकता नहीं है तथापि ऐन्द्रियता तो है ही। वह है केवल ऐन्द्रिय प्रतीति का विषय। उस की रचना में जिस कल्पना का प्रयोग होता है वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभूति को अपना विषय बनाता है। कलात्मक कल्पना मनुष्य की उस अवस्था की सेविका है जिस में वह क्षुब्धता का अनुभव कर के आत्मा के उस भाव को स्थायी सत्ता देना चाहता है। कल्पना यहाँ शुद्ध बुद्धि के साथ नहीं चलती। वह तो वही चित्र मानस पटल पर लायेगी और एकता में बाँधेगी जो उस विशेष भाव के अनुकूल हो। जब भावनात्मक तीव्रता उस को न्यौता देगी तो उस भावना की इच्छा ही के अनुसार काम करना पड़ेगा। इस अवस्था में

उसे पदार्थों की विषयात्मक वास्तविकता को देख कर खोज नहीं करनी है अपितु उन की ऐन्द्रिय स्वरूपता और भावना से उन के सम्बन्ध को देख कर।

कलाओं की रचना वास्तविक जगत् के पदार्थों को देख कर हुई। पदार्थों के अन्दर ही आनन्द को उत्पन्न करने की सामर्थ्य देख कर मनुष्य ने उसी प्रकार की रचना की इच्छा की, यही उस का अनुकरण है। यों मनुष्य स्वयं किसी नई वस्तु की रचना कर ही नहीं सकता। वह वस्तुओं को विभिन्न रूप देता है और तभी जब वह अनुभव कर लेता है, जब वह सांसारिक पदार्थों की प्रतीति कर लेता है। ऐसे अनुभवों के बल पर बनायी हुई कृति में अवश्य ही अनुकरण होगा। वास्तविक मौलिकता का तो संसार में अभाव है, कम-से-कम कला सम्बन्धी संसार में, जहाँ अनुभव ही के बल पर रचना की जाती है। वास्तुकला में प्रकृति के पदार्थों के स्वरूप से समता, सुषमा आदि लिये जाते हैं। प्राकृतिक स्वरूपों ही के गुणों की किसी स्थान पर प्रभावोत्पादकता को देख कर उस का अनुकरण करने की इच्छा होती है। अनु-कृति तो कला के मूल में है। जब कोई वस्तु गहरी मानसिक क्षुब्धता उत्पन्न कर देती है तभी तो उस अवस्था को स्थायी रखने को उस वस्तु का अनुकरण करने की आवश्यकता होती है। यदि कलाकार स्वरूप की दृष्टि से वस्तु का अनु-करण नहीं करता तो गुण की दृष्टि से तो करता ही है। यदि उस के लिए अन्य स्वरूप देने की आवश्यकता पड़ती है तो इसीलिए कि वह उस गुण को और अधिक सरलता और तीव्रता के साथ प्रतिपादित कर सकता है। इस के अतिरिक्त वास्तविक स्वरूप में भी तो प्रकृति की भिन्न-

भिन्न कृतियों की अनुरूपता है, यदि भिन्न कृतियों के इस नये जोड़ को हम पहचान न पायें तो क्या।

मूर्तिकला में तो मानव अथवा अन्य जीव के, अथवा, जीवों के भिन्न अंगों को एक नये बन्धन में बाँधे गये स्वरूप का प्रयोग किया जाता है। अधिकतर तो रूप मानव ही हैं। उन में जिन भावों का समावेश किया जाता है वे भी मानव जीवन से लिये जाते हैं। और तो और ईश्वर के रूप की भी कल्पना मानव रूप के आधार पर कर दी गयी है। शिव और विष्णु की मूर्तियाँ एक ही ईश्वर के भिन्न दृष्टि से कल्पित रूप हैं। इस के अतिरिक्त उन के अन्दर जिन गुणों की कल्पना की गयी है वे भी पूर्ण मानवता के द्योतक गुण हैं। यदि इसे अनुकृति न माना जाय तो अनौचित्य ही होगा। अनुकृति अवश्य इस अर्थ में अनुकृति नहीं कि किसी एक मूल वस्तु का रूप एक भाग से ले कर दूसरे भाग तक जैसा का तैसा बना दिया जाय। अनुकृति कला में उस चित्र की होती है जो कि अनुभवों के द्वारा मनुष्य अपने मानस-पटल में खींचे रहता है।

चित्रकला, संगीत और काव्य में अनुकृति उच्च कोटि की होती है। चित्र तथा संगीत में प्राकृतिक रूपों की मूर्त्त अनुकृति का भी समावेश रहता है। और इस का कारण उन का मूर्त्त शरीर ही है। कलाओं में सब से अधिक हम मानव अनुभूतियों ही की इच्छा करेंगे क्यों कि मानवता ही में हमारी रुचि है। प्रवृत्तियाँ हमारी मानव हैं। प्रत्येक वस्तु को हम अपनी दृष्टि से देखना चाहते हैं, यहाँ तक कि जड़ पदार्थों में भी मानव-चैतन्य का आरोप करते हैं। चित्र-कला से वास्तविक कलात्व का प्रारम्भ होता है, यद्यपि उस

का आभास हमें मूर्तिकला ही में मिल जाता है। चित्र में भी मानव अनुभूतियाँ ही प्रधान रहती हैं परन्तु उन को स्थानाभाव के कारण विभिन्न रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। वहाँ एक ही क्षण की अनुकृति हो सकती है। एक क्षण मे विभिन्न वस्तुओं की जो भावनात्मक दशा सम्भव है उसी का अनुकरण चित्र में हो सकता है। यद्यपि यह क्षण सब से अधिक अनुभूति को उत्पन्न करने वाला होता है फिर भी पृष्ठभूमि की उचित तैयारी न कर पाने के कारण अनुकृत भाव, इष्ट फल की उत्पत्ति नहीं कर सकता।

संगीत में, जैसा अरस्तू का भी कहना है, अभिव्यंजनात्मक अनुकृति की क्षमता सब कलाओं से अधिक है। आत्मिक अवस्था की अनुकृति संगीत सब से अधिक करता है किन्तु एक ही पक्ष का ले कर। उस में हार्दिक पक्ष की तो पूर्ण अनुकृति होती है जिस से अधिक होने की सम्भावना ही नहीं, किन्तु मानसिक का अभाव होने के कारण वह काव्य के सम्मुख हीन है। आत्मा की गति और अवस्था की अनुकृति करने वाली कला मानवता के हार्दिक अंग का तो प्रतिपादन कर देती है किन्तु मानसिक का बिलकुल भी नहीं।

काव्य में तो अनुकृति पूर्ण अवस्था तक पहुँचायी जा सकती है, विशेषकर नाटक में जहाँ कविता, संगीत, नृत्य और चित्र सब का यथेष्ट समावेश हो सकता है। काव्य जिस मूल की अनुकृति करता है वह विभिन्न रूप में प्रदर्शित मानव कार्य तथा चरित्र है। वस्तु की अनुरूपता का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य कलाओं को इतना विषय भी नहीं मिल सकता। काव्य में वास्तविक (वस्तु-सम्बन्धी स्वरूपात्मक) चित्रण की स्थिति की आवश्यकता न होने के कारण स्थानाभाव, बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। दूसरे, भाषा,

जो कि काव्य में भावों का साधन है प्रत्येक मनुष्य के उपयोग की वस्तु होने के कारण सरलतर साधन है। मूल की सम्पूर्ण और सन्तोषप्रद अनुकृति इस लिए काव्य ही में हो सकती है।

सभी कलाएँ मानव चारित्र का उस के किसी प्रदर्शित रूप में अनुव्यवसाय करती हैं। इस लिए अरस्तू ने वास्तु-कला को ललित कला नहीं माना, क्यों कि उस में मानव चरित्र की अनुकृति का अवकाश नहीं है। कला में वास्तविक विषयों की अनुकृति केवल उसी सीमा तक होती है जहाँ तक वे मानवता और मानव के आत्मिक व्यापारों की व्यंजना करें। और काव्य का तत्व इन्हीं का अनुव्यवसाय है। लय और पद-लालित्य भाषा के सुन्दरम् स्वरूप हैं जिन की स्थिति भी वास्तविक पदार्थों में सौन्दर्य देख कर उन की अनुकृति के रूप में आई।

इस प्रकार कला की कोई भी कृति मानव आत्मा और उस के व्यापारों की वाहिका रचना है। अपने मूल रूप में वह कलाकार के मानस पटल पर किसी स्वतन्त्र सत्ता द्वारा बनाये गये काल्पनिक चित्रों की छाप है। और यह स्वतन्त्र सत्ता, मानव जीवन और मानव चरित्र का विषय लिये हुए स्वतन्त्र आत्मा है। अनुकृति, मूल कलाएँ, और विशेष कर काव्य जो उन का उच्चतम स्वरूप है मानव जीवन के साधारण भावों की अभिव्यंजना हैं। जगत का प्राकृतिक अस्थायित्व और विशेषत्व हटा कर उस के मूल में समान रूप से वर्तमान स्थायी साधारण का, आत्मा के सारभूत गुणों का प्रतिपादन किया जाता है। कला के स्वरूप में व्यक्तित्व रहता है, आत्मा में नहीं। वह व्यष्टि के अन्दर समष्टि है। प्रकृति की नग्न वास्तविकताओं को पार कर के वह स्वतन्त्र गति

में बाधा पहुँचाने वाली सीमाओं के जाल से पृथक शुद्ध रूप वास्तविकता को प्रकाशित करती है। इस दृष्टि से वस्तु और कैवल्य आदर्शरूप भाव विरोधी नहीं होते जैसा वास्तविक संसार में देखा जाता है। कैवल्य ही वस्तु है, किन्तु ऐसी वस्तु जिस में विरोध नहीं रहने पाता। वस्तु में यहाँ केवल एक ही भाव, आत्मा के सविकल्प रूप का आभास रहता है। प्रकृति में वास्तविक स्वरूप के कारण तथा अन्य वस्तुओं से स्थित्यात्मक सम्बन्ध होने के कारण वस्तु, स्वतन्त्र रूप नहीं होती। उस में बाह्य प्रभाव रहते हैं और युक्तियुक्तत्व भी नहीं रहता क्यों कि उस की रचना किसी भाव का अनुसरण कर के नहीं की गयी थी। प्रकृति में वस्तुओं की रचना उन की वास्तविक उपयोगिता को देख कर की गयी थी। किन्तु कला में जब उस की अनुकृति की जाती है तो अन्य वस्तुओं से उस का सम्बन्ध विच्छेद कर के, उस के औपयोगिक गुणों का निरादर कर के, उस की आकस्मिकता के स्थान पर युक्तियुक्तत्व डाल कर, उस की स्वतन्त्र सत्ता का ध्यान रक्खा जाता है जहाँ वह अपनी मूल रूप भावात्मक सत्ता ही के नियमों के अनुसार चलती है। इस प्रकार साधारण की अनुकृति करने वाली कला कैवल्य मानवता का,,अनुकृति द्वारा, इन्द्रियग्राह्य रूपों में कैवल्यात्मक प्रतिपादन है तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इसी को दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सत्य भाव के अनुकूल सृष्टि की अनुकृति ही कला है और इस सत्य भाव का ग्रहण उन साधारण विचारों में से किया जाता है जिन को बुद्धि, ऐन्द्रिय विषयों में से खोज कर निकालती है। हम लोग संसार के सभी पदार्थों को अपनी दृष्टि से देख कर उन के अन्दर भावात्मक रूप की कल्पना करते हैं। वस्तुओं के इन

भावात्मक रूपों ही की अनुकृति कला है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि वस्तु में वह भाव अपूर्ण रूप है और हम भाव के अनुकूल रूप दे कर उस में पूर्णता ले आते हैं। है अनुकृति ही, किन्तु ऐसी जिस में प्रकृति के रूप में (हमारी मानव भावात्मक दृष्टि से) संशोधन हो जाता है। नाटक के अन्दर भी हम उस जगत् का अनुकरण करते हैं जहाँ हमें भावात्मकता पूर्ण रूप से प्रकट होती दीखती है। धनंजय के 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' में अवस्था से तात्पर्य संसार की वास्तविक अवस्था से नहीं है, बल्कि मानवता की आदर्श अवस्था से है। वह तो नाटक को धर्म, अर्थ और काम की दृष्टि से भी उपयुक्त साधन मानता है और इस प्रकार उस में मानव प्रवृत्तियों का अवकाश कर देता है; साथ ही उन के लिए लक्ष्य भी निर्धारित कर देता है। संस्कृत के इन नाट्यशास्त्रियों में तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में यदि भेद है तो यही कि प्राच्य लोग तो नाटक में आदर्श अवस्था का प्रतिपादन चाहते हैं और पाश्चात्य वास्तविक का। अनुकृति दोनों में है। दोनों विषय मानव व्यापार हैं। किन्तु प्राच्य तो आदर्श मानव व्यापारों की—जैसा वे देखना चाहते हैं उन की अनुकृति चाहते हैं और पाश्चात्य जैसा संसार में देखते हैं उस की अनुकृति चाहते हैं। अन्तर यह होता है कि प्राच्यों की आत्मिक अवस्था में बाह्य स्थितियों से विरोध नहीं रहता और पाश्चात्यों की आत्मिक अवस्था सांसारिक बाह्य स्थितियों के विरुद्ध रहने पर भी अपनी आत्मिक सत्ता को जीवित रखने का प्रयत्न करती रहती है। मूलभाव की अनुकृति दोनों में है। बाह्य रूप में अन्तर है। इसी से प्राच्य नाटक प्रसादान्त और पाश्चात्य वियोगान्त हैं। अरस्तू ने विषादान्त नाटकों के मूल में उस कार्य की अनुकृति बतायी है जो

मनोरंजन के ठीक विपरीत है। वह एक गम्भीर कार्य होता है जिस का सम्बन्ध जीवन के आदर्श लक्ष्य से रहता है। वह कला जो कि जीवन के इस अंग की अनुकृति करती है अवश्य ही एक गम्भीर व्यापार है।

६—नाटक

नाटक साधारण मानवता की अनुकृति करते हैं और उन का विषय मानव व्यापार है, प्राच्य मत के अनुसार नाटकों से रस की उद्भूति चाहिए। पाश्चात्यों के अनुसार नाटक मानव भाग्य का एक चित्र है। प्राच्य मत के अनुसार नाटक के अंदर प्रधान वस्तु, कार्य है जिस की प्राप्ति नायक का मुख्य लक्ष्य है। इस की प्राप्ति के लिये वह सांसारिक वस्तुओं को अपनी इच्छा के अनुसार ढालना चाहता है। नायक के इन व्यापार में जिन मानव भावों की उद्दीप्ति कर दी जाती है वे ही नाटक की आत्मा है। मनुष्य के अन्दर स्थाई रूप से जो भाव वर्तमान हैं उन की उद्दीप्ति करना ही नाटक का प्रधान लक्ष्य है। पाश्चात्य मत भी कार्य को प्रमुख स्थान देता है। किन्तु वहाँ नायक सांसारिक बाह्य अवस्थाओं को अपने अनुकूल नहीं मोड़ता। पाश्चात्यों की धारणा है कि मनुष्य को संसार में सदैव दैवी शक्तियों से विरोध करना पड़ता है। नियति, मनुष्य की इच्छा शक्ति के विरुद्ध जा कर उस के प्रयासों को विफल करती रहती है। अतएव उन का नायक अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए वस्तुओं को अपने अनुकूल चलाने का भरसक प्रयत्न तो करता रहता है किन्तु दैवगति के विपरीत होने के कारण बाह्य अवस्थाएँ सदैव उस के विपरीत हो जाती है। किन्तु नायक की मानवता

इसी में है कि सब शक्तियों के विरुद्ध रहने पर भी अपने मत को वह नहीं छोड़ सकता। अपने प्रयास में चाहे उस के शरीर का नाश हो जाय किन्तु इस शरीर विनाश के द्वारा वह अपनी आत्मा की अमरता स्थापित कर देता है। मानवता की इस अमरता में ही नायक की सफलता है और इसी मानवता का चित्रण नायक की आत्मा है। वहाँ भावों की उद्दीप्ति लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य तो मानव कार्य का चित्रण है किन्तु स्वाभाविक तादाम्य हो जाने के कारण वहाँ भी भावों की उद्दीप्ति हो जाती है। इस प्रकार पाश्चात्यों तथा प्राच्यों के कार्य में भी अन्तर है। प्राच्यों के कार्य में लक्ष्य आवश्यक अंग है, पाश्चात्यों के कार्य में नाटक की लक्ष्य सिद्धि की असंभवता के कारण व्यापार ही में पूर्ण कार्यत्व है।

किन्तु कार्य केवल वाह्य कार्य—घटनात्मक व्यापार नहीं है। प्राच्यों तथा पाश्चात्यों दोनों के अनुसार यह एक आन्तरिक व्यापार है। नायक की मानसिक अवस्था से इस का विशेष सम्बन्ध रहता है। अथवा यों कहा जाय कि नायक की मानसिक दृष्टि से देखा जाता हुआ नाटकीय व्यापार ही कार्य है। अरस्तू के अनुसार कार्य से तात्पर्य उस आन्तरिक व्यापार से है जिस का प्रदर्शन वाहर होता है और जो कि मनुष्य के युक्त्यात्मक व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है।" [१] इस प्रकार कार्य, नायक की इच्छा शक्ति की व्यापारिक क्रिया है। प्राच्यों और पाश्चात्यों में यही भेद है कि पाश्चात्यों के अनुसार वह क्रिया (Action) है और प्राच्यों के अनुसार

1—"Action in Aristotle is not a purely external act, but an inward process which works out-ward, the expression of a man's rational personality."

वह कार्य है जो किया जाना चाहिए। उस में लक्ष्यात्मकता का आरोप हो जाता है।

इस प्रकार कार्य, नायक का जीवन है। जिस प्रकार मानव जीवन में आत्मा की स्थिति का पता लग जाता है उसी प्रकार नाटक के कार्य से उस के अन्दर स्थित मानवता अथवा इसकी प्रतीति हो जाती है। नाटकीय आत्मा का बोध कराने के लिये नाटक में कार्य का होना आवश्यक है। नायक की मानसिक प्रवृत्तियों तथा घटनाओं में क्रिया और प्रतिक्रिया हुआ करती है। पाश्चात्यों में यह संघर्ष का रूप ले लेती है। इस क्रियात्मक व्यापार में नायक की इच्छा शक्ति का आभास मिलता है। पाश्चात्यों में इस इच्छा शक्ति की अकुंठितता ही बाह्य व्यापारों से दबाए जाने पर भी, नायक का प्राण है। प्राच्यों में इच्छा शक्ति की क्रिया के द्वारा नायक से प्राप्त मानसिक अवस्था ही नाट्य विषय है।

प्राच्य मत के अनुसार नाटक के तीन मुख्य अंग है। नायक की मानसिक दृष्टि से देखे गये कार्य की प्रगति की अवस्था, वस्तु विषयक घटनाओं की स्थिति, तथा इन दोनों के संघर्ष से उत्पन्न सम्पूर्ण नाटक की अवस्था विशेष। इन्हीं को कार्यावस्था, अर्थप्रकृति और संधि कहा गया है। कार्यावस्था को नाटक की मनोवैज्ञानिक अवस्था कहा गया है। जिस भावना विशेष को धारण कर के नायक, नाटकीय व्यापार के प्रति कार्य करता है वही कार्यावस्था है। घटनाओं को अनुकूलता तथा उन के ऊपर अपनी सफलता को पाते हुए नायक की मानसिक अवस्था में भी अन्तर आता रहता है। कार्यावस्था के पाँच भेद हैं, उसी प्रकार अर्थ प्रकृति और संधि के भी। अर्थ प्रकृति वह नाटकीय अवस्था है जो

कि नायक की इच्छा के अनुकूल प्रगति पाती रहती है। संधि, नाटक की वह अवस्था है जोकि नायक की क्रिया और घटनाओं की स्थिति के संघर्ष के कारण नाटक की भविष्य प्रगति को निश्चित करती है। अर्थ प्रकृति को नाटकी विषय वस्तु (objective elements) कहा गया है। संधि की परिभाषा संघर्षात्मक क्रिया के कारण दूसरे ही रूप में की गई है। नाटक के मुख्य प्रयोजन के अनुसार चलने वाली घटनाओं का अवान्तर प्रयोजनों के साथ सम्बन्ध ही सन्धि है 'एकेन प्रयोजनेन अन्वितानां कथांशानां अवान्तर प्रयोजनैः "सह सम्बन्ध सन्धि"। मुख्य प्रयोजन तो नाटक का लक्ष्य है जिस की सिद्धि की ओर नायक का प्रयास होता है। मुख्य प्रयोजन की सिद्धि कई रूप से हो सकती है। घटनाओं की विशेष स्थिति के कारण और नायक को उन के प्रति क्रिया के कारण, नायक कुछ ऐसी सफलताएँ पा जाता है जो कि मुख्य प्रयोजन की सिद्धि की साधन होती हैं। ये छोटी-छोटी सफलताएँ ही कार्य की दृष्टि से अवान्तर प्रयोजन कहलाती हैं। घटनात्मक स्थिति के परिवर्तन के साथ ये अवान्तर प्रयोजन बदल सकते हैं, किन्तु प्रयोजन सदैव वही रहेगा। अतएव हमने सन्धि को कार्यावस्था और अर्थ प्रकृति के संघर्ष से उत्पन्न अवस्था विशेष यदि कहा है तो ठीक ही है। मुख्य प्रयोजन के अनुसार चलने वाली घटनाओं का अर्थ है नायक की लक्ष्य सिद्धि के अनुसार होने वाली घटनाएँ। इन में नायक की इच्छा शक्ति अन्तर्हित है। अवान्तर प्रयोजन में घटनात्मक स्थिति के कारण नायक की प्रगति की सूचना मिलती है। इन दोनों का सम्बन्ध इच्छा शक्ति और घटनात्मक स्थिति के संघर्ष से उत्पन्न नाटकीय अवस्था है। इस प्रकार नायक की दृष्टि के अनुसार नाटक

की स्थिति कार्यावस्था है, घटनाओं की दृष्टि के अनुसार वही अर्थ प्रकृति है, अपने पूर्ण तथा केवल रूप में वह संधि है।

इन के प्रभेदों को जान कर हमारा विषय और स्पष्ट हो जाता है। कार्यावस्था के पाँच भेद आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम हैं। नाटक की मानसिक अवस्था को ये द्योतित करते हैं। हृदय में विचार उठने तथा घटनाओं को अनुकूल देखने से ही नायक के अन्दर कार्य करने की इच्छा उद्भूत हो जाती है। यहीं पर वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेता है। यह उस के अन्दर क्रियेच्छा का आरंभ है। इस इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए उसे व्यापार करने पड़ते हैं। अब उस के अन्दर प्रयत्न रूप मानसिक अवस्था आ जाती है। घटनाओं में बाधा पड़ने और कहीं कहीं पर असफलता मिलने से लक्ष्य सिद्धि अनिश्चित दीखती है। यह प्राप्त्याशा की अवस्था है। लक्ष्य सिद्धि का उपाय ज्ञात हो जाने पर लक्ष्य सिद्धि निश्चित दीखती है। नायक के मन की अवस्था में सफलता की निश्चिति का आभास है। फल को प्राप्त कर लेने पर संतुष्टि की अवस्था अन्तिम अवस्था है।

अर्थ प्रकृति के भी पाँच भेद हैं। बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य। नाटक की वह घटना जो कि लक्ष्य का प्रथम संकेत कर के नायक के अन्दर उस की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न कर दे, बीज है। बिन्दु वह घटना है जो कि नायक के अन्य व्यापारों में लगे हुए मन को विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित कर के लक्ष्य की ओर प्रयत्नात्मक व्यापार करवाये। पताका और प्रकरी सहायक कथा वस्तुएँ हैं। अपनी सिद्धि के लिए नायक को औरों से सहायता लेनी पड़ती है। इस के बदले में उन्हें सहायता दी जाती है। इन सहायक तथा गौण

कथा वस्तुओं में सफलता मिलने पर नायक की लक्ष्य सिद्धि और निश्चित हो जाती है। रामायण में सुग्रीव वृत्तान्त पताका है। नाटक की गूढ़ कथावस्तु को हल करने वाली कथा वस्तु प्रकरी है। रामायण में श्रमण वृत्तान्त प्रकरी है। नाटक के अन्दर रहस्य का उद्घाटन होने से नायक को व्यापार में सरलता हो जाती है और उस का मार्ग भी निश्चित हो जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक नाटक में पताका और प्रकरी हों ही। कार्य, नाटक की अन्तिम घटना है जहाँ कि लक्ष्य सिद्धि हो जाती है।

दोनों के प्रभेदों को देखने से ज्ञात होता है कि ये आपस में सम्बद्ध भी हैं। आरंभ और बीज साथ चलते हैं, उसी प्रकार प्रयत्न और बिन्दु, प्राप्त्याशा और पताका, नियताप्ति और प्रकरी, तथा फलागम और कार्य। इसी अनुसार संधि के भेद मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार इन के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न नाटक को शरीर के रूप में देख कर ही ये नाम दिये गये हैं।

संस्कृत नाटककार का प्रधान लक्ष्य नायक के साथ तादात्म्य (Self identification) है, जिस से रस की प्रतीति सामाजिक सदैव करते रहें। उन के अंदर भी यह भाव जागृत हो जाय जो कि नायक के अंदर है। इस हेतु नाटक के अन्दर उन्हीं विषयों का प्रदर्शन होता है जो तादात्म्य में बाधा न पहुँचावें। स्पर्श गन्ध आदि से संबंध रखने वाली घटनाओं का प्रदर्शन नहीं किया जाता। साथ ही ऐसी घटनाएँ भी नहीं प्रदर्शित की जातीं जो कि रस की उत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं होतीं। नाटकीय वस्तु के लिए यदि ऐसी घटनाएँ आवश्यक हों, और उन के ज्ञान के बिना कथा,

समझ में यदि नहीं आ सकती हो तो उन को विष्कम्भक आदि में समाविष्ट कर के सामाजिकों को सुना दिया जाता है।

अरस्तू के अनुसार भी नाटक दो दृष्टिकोणों से देखा जाता है। वस्तु (Plot) तथा नायक का व्यापार। नायक के मानसिक व्यापार में दो अंग है। एक को अरस्तू एथौस (Ethos) नाम देता है दूसरे को डायोनिया (Diaonia)। एथौस मानसिक व्यापार में नैतिक अंग है और डायोनिया बौद्धिक अंग है। एथौस मनुष्य के अंहकार की विशेष अवस्था अथवा दिशा का सन्केत करता है। डायोनिया विचारात्मक बुद्धि सबंधी अंग है जो कि प्रत्येक युक्तियुक्त व्यवहार में अन्तर्निहित है और जिस के द्वारा ही एथौस बाह्य प्रकटता पा सकता है और एथौस से जो केवल भावात्मक व्यापार द्वारा पृथक किया जा सकता है। जहाँ कहीं भी अंहकार की निश्चयात्मक प्रवृत्ति रहती है या नैतिक झुकाव दीखता है वहीं एथौस की भी स्थिति होती है डायोनिया के अंदर वक्ता के बौद्धिक व्यापार लक्षित होते हैं।[1] मनुष्य के

1—"Ethos according to Aristotle is the moral element in character. It reveils a certain state or direction of the will. Diaonia is the thought the intellectual element which is implied in all rational conduct through which alone ethos can find outward expression and which is separable from only by a process of abstraction Wherever moral choice or a determination of will is manifested, there ethos appears Under Diaonia are included the intellectual reflections of the speaker."

व्यापारों में एक तो उस की प्रवृति होती है दूसरे उस की युक्त्यात्मक विचार धारा । इच्छा और युक्ति (Will and reason) ही हमारे सब व्यापारों को प्रेरित करती हैं। एक तो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है और दूसरी बौद्धिक विकास से उद्भूत हमारी' विचारात्मक शक्ति । मनुष्य की व्यापार प्रेरिका इन दो शक्तियों को अरस्तू ने एथौस और डायेनिया नाम दिया है। एथौस अन्तःकरण का व्यापार है और डायोनिया विवेक अथवा बुद्धि का। अस्तु नायक की व्यापारात्मिका प्रवृत्ति घटनाओं को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करती है। नायक की इच्छा शक्ति तथा कथा वस्तु (अधिकरण Plot) के संघर्ष से चरित्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चरित्र वह शक्ति है जो कि वस्तु विशेष से सम्बन्ध होने पर एक विशेष रूप से क्रिया करती है। क्रिया (action) चरित्र ही का व्यापार है।

किन्तु नाटकीय क्रिया अथवा कार्य नाटक का अप्रधान अंग नहीं है। इस का प्राधान्य चरित्र से अधिक है, क्यों कि कार्य ही में जीवन है। नाटकीय कार्य चरित्र चित्रण के लिए नहीं होता। चरित्र के प्रति कार्य गौण रहता है। वस्तुतः कार्य, एथौस का संकेत करता है, चरित्र तो उस के प्रति गौण हो कर रहता है। यह तो नहीं होता कि कार्य बिना चरित्र के हो सके किन्तु नाटकीय दृष्टि से कार्य में प्रधानता अधिक होती है। अरस्तू का कहना है कि बिना कार्य के नाटक हो नहीं सकता, चाहे बिना चरित्र के हो जाय। उस के कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक में कार्य की प्रधानता सदैव रहेगी, चरित्र इतना अप्रधान हो सकता है कि उस की स्थिति नहीं के बराबर हो जाय। नायक की इच्छा शक्ति

यदि इतनी तीव्र नहीं है कि घटनाओं के प्रति जोरदार संघर्ष कर सके तो चरित्र में दुर्बलता अथवा अप्राधान्य स्वयं ही आ जावेगा। मनुष्य के अन्दर जीवन का आभास सदैव मिलता रहना चाहिए। आत्मा चाहे उस के अन्दर प्रधान रूप में प्रतीत न हो। घटनाओं के अनुकूल चलने वाले, स्वय अपनी सत्ता को न जमाने वाले मनुष्य में आत्मा का आभास नहीं मिलता, किन्तु उस के अन्दर जीवन रहता ही है। इस प्रकार ऐसे नाटक भी हो सकते हैं जिन में चरित्र इतना कम दिखलाया जाय कि कार्य की प्रगति में उस का स्थान अत्यन्त गौण हो। हाँ, इस का फल यह होगा कि आत्मा की सत्ता का, मानवता का पूर्ण रूप से प्रतिपादन, वह नाटक न कर सकेगा।

कथा वस्तु (Plot) नाटक की वह रचना है जिस के द्वारा पथौस, नाटकीय उपयोगिता को प्राप्त कर अपनी सत्ता को दिखाता है। पथौस का परिचय कराने के लिए यह, वस्तु प्रधान साधन है। इसलिए अरस्तू ने कथावस्तु ही को नाटक की आत्मा कहा है। आत्मा का प्रयोग यहाँ समुचित नहीं है, विषयात्मक (प्रमेय objective) दृष्टि मे नाटक का प्रधान अग, कथावस्तु अवश्य ही है। अरस्तू के कथन पर अन्य विद्वानों ने यह कह कर संशोधन किया है कि नाटकीय संघर्ष ही नाटक की आत्मा है। किन्तु नाटकीय संघर्ष को हम, प्राण ही कहेंगे। आत्मा तो वह मानवता है जिस का आभास हमें इस संघर्ष में मिलता है।

नाटकीय संघर्ष (Dramatic conflict) को नाटक में प्रधान स्थान दिया जाता है। बिना संघर्ष के नाटक में जीवन ही नहीं समझा जाता। नाटक ही वह नहीं रह जाता। स्वय नाटकीय संघर्ष के विषय में कहा गया है कि उसका आन्तरिक

नथा वाह्य दोनों रूपों में प्रकाश होना चाहिए। संघर्ष केवल मन ही में नहीं अपितु व्यापार में भी होना चाहिए। हैमलेट के स्वगत भाषण अथवा अजातशत्रु में बिम्बिसार के स्वगत भाषण, आन्तरिक संघर्ष (मानसिक द्वन्द्व) के निदर्शक हैं। वाह्य द्वन्द्व तो व्यापार में स्पष्ट दीखता है। नाटकीय संघर्ष को व्यक्तिगत कार्यों तथा वाह्य संसार से सम्बन्धों में प्रकट होना चाहिए।[1] उसे नेता को अन्य व्यक्तियों के साथ संघर्ष में लाना चाहिए। अतएव नाटक में केवल मानसिक द्वन्द्व (जैसे कि ऋषियों, कलाकारों, अथवा दार्शनिकों के मानसिक द्वन्द्व) नहीं दिखाये जा सकते। वस्तुतः क्रिया ही में जीवन है और क्रिया की प्रेरिका शक्ति के आधिक्य का हमें तभी पता चल सकता है जब कि विरोध हो, बाधाएँ पड़ें और मनुष्य की शक्ति उन के विरुद्ध तीव्र क्रियाएँ करे। चींटी को आदर की दृष्टि से हम तभी देखते हैं जब कि बाधाएँ पड़ने पर भी वह अपना अध्यवसाय नहीं छोड़ती। विरोधात्मक क्रिया ही में विशेष जीवन है।

इसलिए अक्रियात्मक चरित्रों के लिये नाटक में अवकाश नहीं है। क्रिया की असंभवना का विचार कर के ही धनंजय ने शान्त रस को नाटक के हेतु उपयुक्त रस नहीं माना। (अभिनव इस का विरोध करता है और कहता है कि

1—"...it must manifest itself in individual acts, in concrete relations with the world outside, it must bring the agent into collision with other personalities. So in drama purely mental object—as those of ascetic artist and thinker etc. are excluded."

कहता है कि यहाँ उस का स्थायी भाव निर्वेद न हो कर तत्व ज्ञान है। नाटक को आकर्षक होने के लिए संघर्षात्मक होना चाहिए। कार्य, चरित्र की उद्भूति है। उस की स्थिति चरित्र का प्रकाशन करती है जो कि अच्छे नाटकों की विशेष आवश्यकता है। अतएव कार्य (अथवा क्रिया) नाटक का अंग है। चरित्र तथा उस की स्थितियों के परिणाम स्वरूप कार्य की स्थिति नाटकीय चरित्र का तथा नाटकीय आत्मा का परिचय कराती है। इसीलिए नाटक में उस को प्रधानता दी गई है।

पाश्चात्यों को नाटकीय विभाजन प्राच्यों के विभाजन से कुछ कुछ मिलता है। विशेष अन्तर तो आत्मा को भिन्न रूप में देखने के कारण हो गया। उसी के कारण प्राच्यों में नाटक प्रसादान्त तथा पाश्चात्यों में वियोगान्त हैं, कार्यावस्था के पांच प्रभेदों केस्थान पर उन के यहाँ भी आरंभ (begining) प्रगति (developmen), उच्चतम विन्दु (climex), अवनति (decline) तथा विषाद पूर्ण अन्त (catastrophe) बताए जाते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर नाटक के ये प्रभेद, नायक की मानसिक दृष्टि से देखे गये प्रभेद नहीं हैं। ये तो विषयात्मक दृष्टि से देखे गये संपूर्ण नाटक के प्रभेद हैं। नायक की आत्मा अवनति के समय अधिक वेग से क्रिया करने लगती है, चाहे इस समय नियति का पलड़ा भारी हो जाता है। अन्त के समय तो वह अपनी संपूर्ण शक्ति लगा देता है। शारीरिक विनाश के साथ मानवता की विजय रहती ही है। जिस लक्ष्य को ले कर नायक चला था उस का क्षय— उस की आन का नाश—नहीं होता। इस प्रकार नायक की दृष्टि से नाटक में अवनति आती ही नहीं। नाटक के मुख्य भाव—मानवता—की अन्त में सिद्धि ही रहती है। इस दृष्टि

से देखने पर कार्यावस्था में अन्त में सिद्धि है—फलागम है। अतएव पाश्चात्यों के इन पाँच प्रभेदों को हम, कार्यावस्था नहीं कहेंगे, चाहे इन्हें संधि के पाँच प्रभेद मान लें। प्रसादान्त और विषादान्त (वियोगान्त) के कारण ही थोड़ा सा भेद है।

अर्थ प्रकृति के स्थान पर भी पाश्चात्यों के यहाँ कुछ नहीं है। नाटक को सम्बद्ध दृष्टि से देखने के कारण उन्हों ने न तो नायक की मानसिक अवस्था को देख कर भेद किये और न केवल घटनाओं की दृष्टि से। हमारे यहाँ भी नायक की व्यापारिक शक्ति को भिन्न रूप में नहीं देखा गया है। इसीलिए एथौस या डायोनिया के स्थान पर हमारे यहाँ कुछ नहीं है। नायक की इस शक्ति के स्वाभाविक होने के कारण उसे एक विषय देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। वह तो हमारे साधारण मानव जीवन ही की शक्ति है।

पाश्चात्य नाटकों में नायक को जटिल परिस्थितियों में डाल कर दैवी शक्ति के सम्मुख उस की पराजय दिखाई जाती है। नायक की सरलता जब दैवी कुटिलता से दबाई जाती है तो हमें नायक की दुरवस्था पर सोच होता है। नायक अपनी सरलता को अपनी शुद्ध क्रिया को नहीं छोड़ता, इसी-लिए दैवी शक्तियाँ उस को दबाती रहती हैं। नायक के इस युक्ति-असंगत दुःख को देख कर हमें में करुणा उत्पन्न होती है। बाह्य परिस्थितियों से लड़ते हुए नायक को भयानक अवस्था में देख कर हमें भी भय लगता है। किन्तु प्राच्य नाटकों की रचना इस प्रकार नहीं की जाती। पाश्चात्य नाटक घटनात्मक अधिक होते हैं, अतएव बाह्य घटनाओं की प्रगति ही हमारे भावों को निश्चित करती रहती है। प्राच्य नाटकों में इन्हीं घटनाओं के प्रदर्शन के साथ साथ नायक की उन के

प्रति जो मानसिक तथा शारीरिक क्रिया होती उस का विशेषतः प्रदर्शन किया जाता है। पाश्चात्य नाटकों के नायक वस्तुतः घटनाओं से भिड़ते हुए अपने अहंकार को पूर्णतया प्रतिष्ठित रखते हैं, घटनाओं से लड़ते हुए वीरता और दर्प को धारण किये रहते हैं, किन्तु उन के सामाजिक भय और करुणा के भावों भरे रहते हैं। प्राच्य नाटककार नायक तथा सामाजिक की मानसिक अवस्था को एक रखने का प्रयत्न करते हैं। नायक की क्रिया को विशेष रूप से दिखा कर स्थितियों को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हुए दर्प पूर्ण कथनों के द्वार वे सामाजिक के अन्दर भी वीर रस की उद्दीप्ति कर देते हैं। यह सच है कि प्राच्य नायक की असफलता नहीं दिखाते किन्तु यदि उन को यह दिखलाना इष्ट होता या हो तो उन के लिए आवश्यक है कि नायक के अनुभवों को अधिकाधिक प्रदर्शित करें जिस से सामाजिक भी नायक की की तरह अनुभव करें।

प्राच्यों में करुण रस वहीं होगा जहाँ स्वयं नायक, करुण के भावों से भरा हो। उसी प्रकार भयानक भी वहीं होना चाहिए जहाँ नायक भी भय का अनुभव करे। यही कारण है कि करुण भयानक आदि को शुद्ध नाटक में स्थान नहीं दिया गया है। उस के विषय तो केवल वीर और शृंगार ही हैं किन्तु एक बात हमें और माननी पड़ेगी, प्राच्यों का यह मत, व्यवहार में उतना पुष्ट नहीं हो सका। विप्रलंभ शृंगार के नाटक उत्तर रामचरित में करुणा की प्रतीति होने ही लगती है। और यही कारण है कि पहले के लोगों ने तथा स्वयं भवभूति ने भी उस करुण रस का उत्पादक बताया। यह तो अभिनव का विशिष्ट प्रतिपादन था कि उस ने नाटकों के विषय में एक निश्चित मत स्थिर

कर दिया। अन्यथा लोगों में पहिले भी बहुत भ्रान्ति थी। फिर भी अभिनव का मत व्यवहारात्मक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नहीं मालूम पड़ता। परिस्थितियों के विरुद्ध लड़ने वाले नायक को चाहे भय का कुछ भी अनुभव न होता हो, हम तो भावी अनिष्ट की आशंका से नाटक को देखते देखते कई बार सिहर जाते हैं। अभिनव के कट्टर समर्थक ऐसे नाटकों को चाहे दोष युक्त बतावें, किन्तु हम तो देखते हैं कि यह दोष नाटकों में सदा ही मिलता है। नाटक अवश्य, ही हमें भावात्मक जगत में ले जाते हैं, किन्तु अपने संस्कारों के कारण नाटकों की घटनात्मक वास्तविकता हमारे ऊपर उसी प्रकार का प्रभाव डालती है जैसा कि लौकिक घटनाएँ डालती हैं। नायक से हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं किन्तु साथ ही उस के ऊपर पड़ने वाली विपत्ति हमारे अन्दर भय का संचार कर ही देती है, क्यों कि लोक से हम ने यही संस्कार संग्रहीत किये हैं। इस प्रकार नायक को हम विषयात्मक दृष्टि से भी देखते हैं, और नायक के साथ तादात्म्य का अनुभव कर के पहले तो हम उसे प्रमाता के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु साथ ही घटनात्मकता को देखते हुए उसे प्रमेय भी मानते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए हमारी आत्मा दो रूप से कार्य करती है अथवा हमारे अन्दर दो व्यक्तित्व क्रियाशील हो जाते हैं। एक तो नायक से तादात्म्य का अनुभव करता है, दूसरा इस को विषय रूप में देखता है। हम ने यह अनुभव किया है कि कल्पना में हम स्वयं ही को लड़ते हुए देखते हैं, अपने शरीर को और अपनी क्रिया को विषय रूप में देखते हैं। कभी हम घर से क्रुद्ध हो कर अपनी ऐसी अवस्था की कल्पना करते हैं जब कि हम घर से दूर चले गये हों और जटिल परिस्थितियों में पड़ कर अपने

जीवन संग्राम में रत रहते हों। घर के मनुष्य हमारी स्थिति को देख कर प्रेम के कारण हमें वापस खींचते हों इत्यादि। ऐसे अवसरों पर हम एक तो स्वयं को पृथक दुःखमय अवस्थाओं में जाते हुए कल्पित करते हैं, दूसरे में दुःख में जाते हुए स्वयं को विषय रूप में देखते हुए भी अपनी दुरवस्थाओं पर खेद प्रकट करते हैं। इस प्रकार हमारे जीवन में दो व्यक्तित्वों की क्रिया दीखती है। यही करुण भाव वाले नाटकों में भी होता है।

१०—साधारणीकरण, कथारसिस और तादात्म्य

काव्य अथवा नाटक का पूर्ण आनंद लेने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक, नायक के साथ तादात्म्य (Self identification) का अनुभव करें। अपने को नायक के स्थान पर समझ लें और जो जो व्यापार नायक करता हो अथवा कोई नायक के प्रति करता हो उनको अपना किया हुआ अथवा अपने प्रति किया हुआ समझे। सामाजिक के अन्दर भी उन्हीं भावनाओं की आवश्यकता है जिन से प्रेरित हो कर नायक कार्य कर रहा है। नाटक में कला के अन्तरतम भाव की स्थिति प्रधानतः नायक और नायिका में कर दी जाती है अतएव उस का अनुभव करने के लिए नायक अथवा नायिका से तादात्म्य करने की आवश्यकता हो जाती है। हमें अधिक आनंद तभी आवेगा जब हम स्वय को प्रेम करते देखें न कि जब हम दूसरे को प्रेम करते देखें। दूसरी अवस्था में ईर्ष्या यदि न भी जगे उदासीनता रहेगी ही। और यों भी किसी भावावस्था को जानने से अधिक आनंद उस की प्रतीति में है, उस में स्वयं हो जाने में है।

तादात्म्य के मूल में साधारणीकरण व्यापार है। नाटक में राम और सीता को हम देखते हैं किन्तु राम हमारे सामने दशरथ का पुत्र एक पूज्य ईश्वर के समान नहीं आता और न सीता ही जनक की पुत्री और जगन्माता के रूप में आती है। हम उसे अन्य व्यक्ति यदि समझें तो हमारा उस के साथ वही व्यवहार होना चाहिए जो कि संसार में प्रेम कर ने वाले किसी दूसरे व्यक्ति से होता है। संसार में हम प्रति दिन सुनते हैं कि अमुक अमुक से प्रेम करता है किन्तु यह, सुन कर हमें वह आनंद नहीं आता जो कि नाटक में राम को सीता से प्रेम करते हुए देखने में आता है। पहले तो हमारी स्वाभाविक ईर्ष्या जगेगी अन्यथा उदासीनता रहेगी ही। नाटक में राम, विशिष्ट राम के रूप में न आ कर साधारण (universal) मानव के रूप में आता है। तथा सीता भी एक साधारण स्त्री के रूप में। यदि उन में विशिष्टता रहेगी तो नाटक में भी हमारा उन के प्रति वही भाव रहना चाहिए जो प्रति दिन के संसार में रहता है। उन को परमात्मा और देवी मानने वाले मनुष्य, उन का शृंगार देख ही नहीं सकते। उन के प्रति तब तो वही भाव रहने चाहिए थे जो कि जगत पिता और जगन्माता के प्रति रहेंगे। अतएव नाटक में अथवा काव्य में तथा अन्य कलाओं में भी नायक की विशिष्टता हट कर उस में साधारणत्व का भाव आ जाता है। यही नही वह स्थान, वे कार्य, वे सब दृश्य वस्तुएँ विशेष न हो कर साधारण हो जाती हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों में भी साधारणीकरण हो जाता है। नाटक की सीता हमारी नायिका बन जाती है, उस के अनुभाव और शब्द, हमारी नायिका के अनुभाव और शब्द बन जाते हैं।

इतना ही नहीं हम अपने को भी किसी विशिष्ट रूप में नहीं देखते। अपना व्यक्तित्व तो हम भूल जाते हैं। एक स्त्री भर्ता को अन्य स्त्री को देखने से क्या प्रयोजन ? 'लौकिक व्यवहार में कई सामाजिक ऐसे मिलते हैं जो दूसरी स्त्री से प्रेम करना तो दूर रहा उसे देखने का साहस भी नहीं कर सकते। कुछ के अन्दर उत्कट अभिलाषा होते हुए भी लज्जा भाव अथवा गुरु जनों का भय रोक थाम किये रहता है। किन्तु नाटक में वे ही खुल कर के दूसरी स्त्री को शृंगार भरी दृष्टि से देखते हैं। ईर्ष्यालु पति भी अपनी स्त्री को नायक की ओर शृंगार भरी दृष्टि से देखते हुए कुछ नहीं कहते, हम स्वयं उसी अन्य अन्य सामाजिकों को उसी नायिका को देखते देते हैं। हमारे लौकिक व्यवहार में हमारी प्रेमिका की ओर कोई आँख उठा कर तो देख ले। समाज की परित्यक्ता और सामाजिक दृष्टि से हेय चरित्र वाली स्त्री तक को हम अपनी नायिका के रूप में देख सकते हैं। ये सब सिद्ध करते हैं कि हम सामाजिकों का भी साधारणीकरण हो जाता है तथा नाट्य में जो कुछ प्रदर्शित किया जाता है उस का भी।

नाटक में वास्तविकता को हम पहले ही भूल जाते हैं। कला को अधिक से अधिक आनंद देने के लिए सब से पहले हमारी स्थिति भुला देनी चाहिए और नाटक में यह सुचारु रूप से कर दिया जाता है नाटकीय प्रदर्शन के द्वारा हमारे अन्दर यह स्वभाव प्रकृति की देन है कि हम वास्तविकता को भूल कर शीघ्र ही नई भावावस्था को प्राप्त कर जाते हैं। मन की प्रधानता तथा वस्तुओं की गौणता के कारण हम जिस वस्तु को चाहें उस दृष्टि से देख लें। बच्चा एक लाठी लेता है और उस के वार पार टाँग रख कर दौड़ने लगता है। यह विचार करते ही कि घोड़े पर वह चढ़ा है,

घोड़े पर चढ़ने का आनंद (जितनी कल्पना वह कर सकता है और जितना घुड़ सवारी के आनंद के विषय में वह जानता है, वह लेने लगता है। नाटक के मूल में भी यही है। वहाँ की वास्तविकता को भी हम इसी प्रकार भूल जाते। सहगल को हम न तो सहगल याद करते हैं और न देवदास। सहगल, कलकत्ते में बैठा हुआ जाने क्या क्या कर रहा है हमारी बला से। क्या कारण है कि नाटक में वह हमारी चित्त वृत्तियों को अपने अनुकूल बना लेता है। देवदास का किसी स्त्री से प्रेम हुआ हम को इस से क्या। पचासों ने प्रेम किया और मरे इस से क्या। किन्तु नाटक में यह वास्तविकता हट जाती है। सहगल अथवा देवदास से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी स्वतंत्र आत्मा, नाटक में प्रदर्शित देवदास के अन्दर आत्मा से, एकत्व प्राप्त कर लेती है। बाह्य वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है, वस्तु के द्वारा व्यंजित आत्मा ही हमारा विषय है किन्तु उस को प्राप्त करने के पहले वास्तविकता हटा दी जाती है। इस को नाटकीय प्रदर्शन तथा सामाजिक का फल मिल करके करते हैं, साधारणीकरण व्यापार के द्वारा।

यह सामाजिकों के व्यक्तित्व को हटा कर साधारणत्व ला देने का फल है कि लोक में जो घटनाएँ दुःख प्रद होती थीं उन का दुःख नाटक में हमें प्रतीत नहीं होता। वस्तुओं से हमारे शरीर का सम्बन्ध न होने के कारण हमारे अन्दर करुणा, जुगुप्सा और एक तरह की बेचैनी सञ्चार हो जाती है, नाटक में उसी प्रकार की बात दीखने पर दूसरे ही भाव रहते हैं, नायक के विरोधी का नाश यदि कर दिया जाता है तो हमें सन्तोष ही होता है। वास्तविक जगत में भी हम यदि अपने शत्रु की लाश देखेंगे तो हमें कुछ दुख होगा।

यदि किसी को सन्तोष भी होता है तो उस के साथ कुछ अनोखी बेचैनी भी हो जाती है। नाटक में वास्तविक सम्बंध न होने के कारण तथा आत्मा ही की क्रिया होने के कारण शुद्ध रूप में आते हैं। उन के सांसारिक वास्तविकता का पुट नहीं रहता।

इस साधारणीकरण व्यापार से मिलता जुलता पाश्चात्यों का कथार्सिस (Katharsis) है। नाटक का नाटकत्व कथार्सिस उत्पन्न कर देने में है। कथार्सिस होमियोपैथी का शब्द है जिस का अर्थ है 'विशुद्ध करना।' जिस प्रकार होमियोपैथी की दवा का सिद्धान्त ही यह है कि विष ही विष को मारता है (Poison kills poison) उसी प्रकार भावों की शुद्धता, बाहर से भावों को डाल कर होती है। जिस प्रकार दवा का शरीर पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार काव्य का भी आत्मा के ऊपर प्रभाव पड़ता है, जिस से आत्मा विशुद्ध हो जाती है। पाश्चात्यों के अनुसार विषादान्त नाटक ही सुन्दर हो सकते हैं और इसलिए करुण और भयानक रसों ही का प्रदर्शन हो सकता है। नाटक में प्रदर्शित ये रस, मनुष्य के हृदय में वर्तमान द्रवात्मक रसों का उद्दीपन करते हैं। (ये द्रवात्मक रस वास्तव में भाव हैं जो कि उद्दीप्त होने पर ही रस में परिणत होते हैं)। इस उद्दीपन के द्वारा आत्मा में एक सुखदायक हलकापन आ जाता है। नाटक के प्रदर्शित रस इस प्रकार बाह्य उत्तेजना के द्वारा आत्मा को विशुद्ध कर के शान्ति पहुँचाते हैं यही कथार्सिस है।

प्लेटो ने काव्य और कला को कभी भी ऊंची दृष्टि से नहीं देखा। जो वस्तु सांसारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं रहती प्लेटो के अनुसार वह अनुसरणीय नहीं थी। प्लेटो का

कहना था कि काव्य हमारी उत्तेजनाओं को दबाने के बजाय पुष्ट करते हैं। शोक और रुदन के पश्चात् जो स्वाभाविक क्षुधा दुःख में मनोबल से दबी रहती है कवि उसी को प्रज्ज्वलित कर के पुष्टिपुष्ट किया करते हैं। इस रोदनात्मक प्रक्रिया के द्वारा वे पौरुष प्रकृति को कमज़ोर करते हैं, नीच भावों को जाग्रत कर के और तर्क को, भावनाओं को नीचे दबा कर वे आत्मा के अन्दर अराजकता उत्पन्न कर देते हैं। अरस्तू ने इस का विरोध किया। अरस्तू के अनुसार आत्मा के भावनात्मक अंग की हत्या करना अथवा उसे भूखा रखना वाञ्छनीय नहीं है। भावों को नियमित आहार यदि मिलता रहेगा तो हमारे स्वभाव में भी सामंजस्य बना रहेगा। जो भाव हमारे अन्दर स्थाई रूप में वर्तमान रहते हैं उन की उत्तेजना आवश्यक होती है। लौकिक संसार में उन को उत्तेजना यदि मिलेगी तो स्वभाव में सामंस्य चाहे हो जाय भावों के साथ घटनात्मक वास्तविकता लगी रहेगी जिस से असन्तोष उत्पन्न होता है। काव्य में भावों को उत्तेजना मिलती है किन्तु उन का अन्त शान्ति में होता है। वियोगान्त नाटक करुण और भयानक रस को उद्दीप्त करते हैं किन्तु इसलिए कि आत्मा को शान्ति मिले। कृत्रिम रूप से जो रस जगाये जाते हैं वे स्थाई रूप में विद्यमान करुण और भयानक को जो कि लौकिक जीवन की घटनाओं के कारण विकृत हो जाते हैं तथा इस प्रकार क्षोभकारी हो जाते हैं, शान्ति करते हैं। बाह्य उत्तेजना आन्तरिक उत्तेजना को भुलावे में डाल कर बाद में स्वयं शान्त हो जाती है, इस शान्तता में भावात्मक चिकित्सा पूर्ण हो जाती है। भावना का इलाज भावना से होता है, यद्यपि दोनों भावनाओं में थोड़ा अन्तर है। बाह्य भावना शुद्ध रूप में आती है तथा आन्तरिक भावना लौकिक

घटनाओं के कारण सविशेष बाह्य उत्तेजना द्वारा आन्तरिक उत्तेजना को दबाने में प्रकृति का वही रहस्य छिपा है जो रोते हुए बच्चों को हिला डुला कर। बच्चे जब क्षुब्ध हो कर रोते हैं तो यह आवश्यक है कि उन को बाँहों में खूब हिलाया जाय और गा कर सुलाया जाय। थपकी दे कर सुलाने में भी यही रहस्य है, यद्यपि वहाँ ताल की गति होने के कारण विस्मृति दूसरे पक्ष से भी आती है। मन के आन्तरिक क्षोभ को हम चंचल गति युक्त संगीत से बहुत जल्दी दूर कर लेते हैं। आन्तरिक क्षुब्धता का प्रतीकार कर के शान्ति स्थापित करने के लिए बाहरी उत्तेजना एक चिकित्सा है।

किन्तु अरस्तू, काव्य में प्रयुक्त कथार्सिस का अर्थ इससे भी अधिक लेता है, "वास्तविक जीवन के करुण और भयानक में दुःख पूर्ण अधैर्य रहता है। किन्तु नाटकीय योजना में उन को शान्ति मिलती है और वह दुःखात्मकता जाती रहती है। जैसे जैसे नाटकीय कार्य आगे चलता है और प्रथम उद्दीप्त मानसिक अस्थिरता को शान्ति मिलती है वैसे-वैसे नीच प्रकृति के भाव उच्चतर और अधिक परिष्कृत रूप धारण करने लगते हैं। करुण और भयानक में वास्तविकता की जो दुःख पूर्णता रहती है वह परिष्कृत हो जाती है, भाव स्वयं विशुद्ध हो जाते हैं। भाव के स्वरूप बदलने के साथ ही नाटक के साथ ही नाटक कृत शान्ति कारक चिकित्सा रूप प्रभाव भी दीख पड़ता है। इस प्रकार नाटक, भावों में होमियापैथिक चिकित्सा करने के अतिरिक्त और भी कुछ अधिक करते हैं। ऐसी अवस्था में उन का कार्य करुण और भयानक के लिए बाहर निकलने का मार्ग उत्पन्न कर देना मात्र नहीं है अपितु आत्मिक सन्ताप देना भी है; उन भावों को कला के द्वार से बाहर निकलने का मार्ग दे कर विशुद्ध और परिष्कृत करना भी है।"

अरस्तू के अनुसार "नाटक में भावों का साधारणीकरण हो जाता है। वहाँ जिन वाह्य वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है वे हमारे सामने उसी प्रकार नहीं आती जैसी कि हमारे वास्तविक जीवन की स्थितियाँ आती हैं। सम्बन्धात्मकता का वास्तविकता का बोझा हमारे ऊपर से हट जाता है और हमें अपनी जगतात्मक स्थिति की चिन्ताओं की दुःखद स्मृति नहीं रहती। किसी नाटकीय उपन्यास को पढ़ते समय हमें वह भय नहीं लगता जो हमें तब होता है जब कि हम नायक की अवस्था में डाल दिये जाते हैं अथवा हमारे ऊपर वे ही दुरवस्थाएँ आती हैं, फिर भी हमारे अन्दर बिजली दौड़ जाती है भय और आशंका का कंपन उत्पन्न हो जाता है। हमारी प्रतीति वस्तु से सम्बन्ध रखते हुए भी विवेचनात्मक नहीं होती। यह प्रतीत होता है मानों हम स्वयं साक्षात् सम्बद्ध हैं, फिर भी भय का कारण निश्चय रूप दुरवस्था नहीं है जो हमारे जीवन को भय देती रहे। दूसरे की अशुद्धियों के तथा दुरवस्था के दृश्य में परिस्थितियों की चोट चपेटों में हमें मानवता का संदिग्ध नाश देखने को मिलता है। वस्तुतया नाटकीय भय, विशेष घटना से इतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना साधारण जीवन से जो कि मानव भाव का एक चित्र है।"

इस प्रकार साधारणीकरण और कथार्सिस दोनों ही का काम, भावना का उदय कर के आत्मिक परितोष देना है। अरस्तू कथार्सिस की आवश्यकता इसलिए समझता है कि है कि वास्तविक जीवन की घटनाएँ हमारे भावों में विकार उत्पन्न कर देती हैं। भावों का परिष्कार आनंदमय जीवन के लिए आवश्यक है। प्राच्य लक्षणकार साधारणीकरण और रसोत्पत्ति की आवश्यकता इसलिए समझते हैं कि स्थाई

भावों को भोजन देना आवश्यक है क्यों कि वे आत्मा हैं और आत्मा स्वयं को उन रूपों में देखना चाहती है। भावावस्था में पहुँच कर ही आत्मिक आनंद मिल सकता है।

तादात्म्य के लिए साधारणीकरण के अतिरिक्त और बातों का भी ध्यान रखना होता है। गंध आदि वास्तविक अंगों को दूर रखने के अतिरिक्त नायक का चरित्र इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है कि सामाजिक उस के साथ, तादात्म्य करने में कोई संकोच न करे। नायक के गुण अथवा रूप में ऐसा कोई भी दोष नहीं होना चाहिए कि सामाजिक स्वयं वैसा होना स्वीकार न करे। इसलिए संस्कृत नाटकों का नायक सब गुणों से परिपूर्ण और उच्च कुल का व्यक्ति निरूपित किया गया है। नायक के अन्दर कोई ऐसी दुर्बलता नहीं होनी चाहिए जिस का हम अपने ऊपर आरोप करने में हिचकें। विषादान्त नाटकों के नायकों में दुर्बलताएँ होती तो हैं किन्तु इस प्रकार की नहीं कि मनुष्य उन्हें नैतिक दृष्टि से हेय समझे। यदि कहीं परंपरा और संस्कार बुद्धि के विरुद्ध विचार वाले नायक का प्रदर्शन किया जाता है तो उस के मत के अनुकूल इतनी जोरदार उक्तियाँ दे दी जाती हैं कि सामाजिक विरोध नहीं करता। सामाजिक का मन यों ही विवेकशील नहीं रहता, सामान्य दुर्बलताओं के और विरोधात्मक मतों के विरुद्ध विवेचनात्मक मन जाग्रत नहीं होता। किन्तु यदि यही मुख्यतया विरुद्ध हो तो तादात्म्य का अनुभव, सामाजिक नहीं कर सकता। इस के अतिरिक्त तादात्म्य के लिए नायक का प्राधान्य और मंच पर उस की अधिकतम स्थिति आवश्यक हो जाती है। यह तादात्म्य ही की आवश्यकता है जो कि नायक ` मैं

इतना प्रमुख स्थान देती है। इसी प्रमुख पात्र के द्वारा सामाजिक नाटकीय रस का पान करते हैं।

११—विषादी-प्रसादी नाटक और करुण रस

अरस्तू ने नाटक के लिए तीन भावों की आवश्यकता बताई जो हमारे यहाँ के स्थाई भाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से मिलते हैं, किन्तु इन का प्रतिपादन नहीं किया [1]। जान पड़ता है कि यह भारतीय देन थी जिसे वह पूर्णतया समझ नहीं पाया था। अतएव अरस्तू के विषादान्त नाटकों के लिए क्रिया, वाह्य स्थिति, एथौस, डायोनिया, चरित्र और पैथौस का समझना आवश्यक है। इन्हीं पर उस के नाटक अवलम्बित है।

हेगल भी नाटकों में अरस्तू ही का अनुसरण करता है। उसका भी कहना है कि वियोगान्त नाटक का नायक व्यक्तित्व के अन्दर निवास करता है, वहाँ जिस विषय भाव का चित्रण होता है वह स्वयं सत्य है। नायक वहाँ उसी वस्तु को छोड़ता है जो उससे वरवस छीन ली जाती है किन्तु जिस लक्ष्य को लेकर नायक प्रारम्भ से चलता है वह उसी के पास रहता है। इस लक्ष्य के साधक कारण सांसारिक अवस्थाओं से दबा दिये जाते हैं। नायक यह सह

1—"The actual objects of aesthetic emotion are three fold characteristic moral qualities i. e, *the permanent dispositions of the mind which* reveil certain condition of the will; the transient emotion, the passing mood of feeling, and actions in their propea and in ward sense."

सकता है किन्तु दु ख में पड कर भी उस लक्ष्य का परित्याग नहीं कर सकता। शोक के अन्दर की यह जीवित भावना ही नाटक का विषय है। और बाह्य अवस्था (Situation) का गौरव इसी में है कि भाव को सत्य रूप में प्रकाशित करे।

इसी तरह अरस्तू का भी कहना है कि विषान्त नाटक ही मानव जीवन क गंभीर अग का प्रतिपादन कर सकते हैं। ग्रीक मत प्रसादान्त को सदैव उच्छृंखल देखता है उन के अनुसार प्रसादान्त नाटक अथवा कौमेडी केवल हास्य रस क प्रदर्शन ह जिन में ससार मिथ्या दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ तक कि अरस्तू, काव्य में दोष रहित मगल (blameless goodness) का प्रदर्शन भी सभव नहीं मानता। उस का कहना है कि उस में हमारे मानव जीवन की सत्यता ही नहीं जो व्यक्तित्व को निर्णयात्मक और अपनी सत्ता को निश्चित करने वाले कार्यों की ओर प्रेरित करे, जो औरों को कार्य की ओर अग्रसर करे तथा जो शक्तियों का सघर्ष उत्पन्न करे। नाटक में तो वही चरित्र सभव है जो इतनी प्राण शक्ति रक्खे कि बराबर अपनी सत्ता को निश्चित करता जाय और विरोधियों को पद दलित करने क लिए पूर्णतया प्रस्तुत हो। नाटक के व्यक्तित्व में ऐसा अहकार होना चाहिए कि वह बाह्य अवस्थाओं, अन्य पात्रों पर अपनी प्रधानता और अधिकार स्थापित करता रहे। किन्तु मगल में इस का अवकाश नहीं है। वहाँ चरित्र अपनी निस्स्वार्थता क कारण तथा अपनी आत्मिक सत्ता को प्रधानता न देने के कारण क्रियाहीन तथा अविरोधी हो जाता है, प्रतिघात न करने के कारण कार्य को वह निश्चेष्टता पर ले आता है। इस प्रकार वह सघर्ष ही नहीं रहता जो नाटक का आवश्यक अग है। यदि उस म जोरदार प्रेरणा की कमी न भी हो तो सत्य के लिए

निस्स्वार्थ उत्साह में हम वह नाटकीय चमत्कार नहीं प्रतीत करते, वह ममत्व नहीं देखते जिस का प्रदर्शन हमें उन नाटकों में मिलता है जिन में मानवता अपने ऊपर आपतित भाग्य के साथ युद्ध करती रहती है। यह सब से ऊंचे प्रकार की आत्म रक्षा (Self preservation) की प्रवृत्ति हमारी प्रथम स्वाभाविक दाय है। यह क्रियाशीलता ही है जो कि दुष्ट नायक का भी नाटक में समावेश करा लेती है।

साधारणतया नाटक में अथवा कला ही में साहस (crime) को कोई स्थान नहीं दिया जाता क्यों कि उस में न तो शिवत्व है और न सौन्दर्य। और न उस में मौलिकता ही होती है। किन्तु बड़े रूप में दुष्टता भी हमारी रोचकता का विषय हो सकती है। वहाँ केवल स्थैर्य और बुद्धि विवेक होना चाहिये, जिस से वह साहसिकता साधारण कोटि से ऊपर उठ जाय। मनोबल, कुमार्ग पर चल कर भी अमानुष शक्ति से अपने चारों ओर की वस्तुओं को पद-दलित करता हुआ कर्मशील यदि हो तो उस में वह गौरव पाते हैं। अपने स्वार्थ के लिए जनपद को युद्ध में ढकेल कर सहस्रों का रक्तपात कर के जो नृपति विजय लाभ करते हैं उन की प्रशंसा में भी यही प्रवृत्ति है। कुमार्ग पर चलने वाली महान शक्ति का विनाश यदि हो जाता है तो हमें दुख होता है, समवेदना होती है। व्यक्ति की मृत्यु का सोच नहीं रहता अपितु उस महान शक्ति के नाश का दुःख रहता है। शेक्सपियर के रिचर्ड तृतीय में, निर्दय और अमानुषिक रिचर्ड अपने लक्ष्य के लिए सब पदार्थों को निर्दयता से अपनी सिद्धि के लिए मोड़ता हुआ दिखलाई देता है। यह एक ऐसा चरित्र है जिस में नीच, भयानक में परिणत हो गया है।

अतः सत्य को प्रदर्शित करने के लिए नाटक में मानव दुर्बलता का प्रदर्शन आवश्यक है। हाँ यह दुर्बलता अथवा गलती निश्चयात्मक नहीं होनी। वे करते तो इसे जान बूझ कर हैं किन्तु ऐसी अवस्था में कि मस्तिष्क उस का विवेचन नहीं कर सकता। शेक्सपियर के नायक काम, क्रोध अथवा मानसिक उद्वेग में ऐसा करते हैं, वे अपनी नैतिक दुर्बलता के कारण उचित अनुचित का विचार नहीं कर सकते फिर भी उन का कार्य अनजाने में नहीं होता। यही साधारण मानव चरित्र भी है।

प्लेटो ने तो संगीत आदि सभी कलाओं की गिनती हानि रहित मनोरंजन के साधनों में की थी। किन्तु अरस्तू का कहना है कि हास्य रस के नाटक अर्थात् कौमिडी और नीच जाति की कलाएँ चाहे मनोरंजन की साधन मान ली जायँ, उच्च भाव को प्रकाशित करने वाली कलाओं का दूसरा ही स्थान है। विषादान्त नाटक तो जीवन के आदर्श लक्ष्य की व्यंजना करते हैं, अतएव उन में गंभीरता है। इस प्रकार भी विषादान्त नाटक ही में अरस्तू महत्ता देख सकता है। अरस्तू तो उन नाटककारों को धिक्कारता है जो उसके अनुसार अपने नाटकों को सुखान्त देने को लालायित हो जाते हैं। क्या आवश्यकता है कि प्रेक्षकों की दुर्बलता को परितोष दिया जाय! कला का लक्ष्य अकस्मात् आनंद देना है ही नहीं। वहाँ तो आनंद अन्य व्यावर्त्तक सब से विशिष्ट होना चाहिए। अनुभूति ही की उत्पत्ति यदि करनी है तो ऐसी क्यों न की जाय जो कि साधारण मानवता से सामंजस्य में रहे।

यूनानी मत के अनुसार प्रसादान्त नाटकों में वैयक्तिक आलोचना का होना आवश्यक है। हास्य रस की उत्पत्ति

के लिए चरित्र की मूर्खता की आलोचना की जाती है। प्लेटो ने इसे बुरा बतलाया क्यों कि इस से मानव चरित्र नीचा होता है और निन्दा का भाव जगता है। अरस्तू कौमेडी को हेय दृष्टि से इस विचार से इस नहीं देखता। वह तो कला को साधारण का प्रतिविम्ब मानता है। कौमेडी में व्यक्तित्व का प्रदर्शन होता है अतः उस में कलात्व है ही नहीं। अरस्तू तो कला का प्रयोजन नैतिक मानता ही नहीं। विषादान्त नाटक का नायक आदर्श चरित्र का उदाहरण नहीं देता वह तो केवल मानव भावों को जगाने का साधन है। उस के चरित्र में सत्यता होनी चाहिए और ऐसी जिसे सभ्य समाज सत्य अंगीकार करे। जिस चरित्र से सामाजिक तादात्म्य का अनुभव नहीं कर सकता वह साधारण—सत्यात्मक—नहीं है। कला के अन्दर शुद्ध सत्य आनंद ही रहना चाहिये, ऐसा नहीं जो कि मानवता के प्रतिकूल हो, चाहे उस से सामाजिकों को कितना ही सुख पहुँचे। हाँ, प्रसादान्त नाटकों को भी ऐसा प्रदर्शन नहीं करना चाहिए जिस में नैतिक कुटिलता हो, क्यों कि वह तो हानिकारक मनोरंजन हो जायगा। हास्य रस के पात्रों में भी जो नैतिक दुर्बलताएँ होती हैं वे उन के चरित्र की कुरूपता मात्र हैं। ऐसे चरित्रों का प्रतिपादन हमें वास्तविक जीवन से उठा कर गौरव के भाव से भर देते हैं। दूसरे को मूर्ख देख कर हम अपनी महत्ता का ज्ञान करने लगते हैं। ये प्रसादान्त नाटक कलात्मक तभी हो जाते हैं जब ये उन अपूर्णताओं का प्रतिपादन करते हैं जो मानव जीवन की स्थाई रूप वर्तमान विशेषताएँ हैं। जहाँ मानव जीवन के इन विरुद्ध भावों का हास्यास्पद सहानुभूतिमय रूप में प्रदर्शन होता है वहाँ प्रसादान्त नाटक में भी कलात्व है।

अपने जीवन में भी हम हँसते तभी हैं जब हम ऐसी घटना देखते हैं जो साधारण से भिन्न हो। कुरूपता अथवा अपूर्णता जिन के कारण हमें हँसी आती है प्रकृति की अनहोनी घटना है, सत्य सत्ता से दूर एक अव्यवस्थिति है। इसीलिए अरस्तू प्रसादान्त नाटकों में साधारणी भाव का अवकाश न देख कर उन्हें हेय समझता है किन्तु प्रसादान्त नाटक उसी समय कलात्व को धारण करते हैं जब उन में प्रदर्शित हास्य जीवन की साधारण विशेषता पर निर्भर रहता है, जब उस का हास्य दूसरे को असमंजस में डालकर उस से प्राप्त दुष्ट आनंद नहीं होता और न दूसरे की मूर्खता को देख कर स्वयं में महत्ता का अनुभव रूप परितोष होता है। कला का हास्यास्वाद उस कुरूपता पर निर्भर है है जो साधारण का चित्रण है।

विषादान्त तथा प्रसादान्त नाटकों के साधारणी भाव में भी भेद है। विषादान्त नाटक का साधारण, मानव प्रकृति की अन्तरतम अवस्था है जो मानव प्रगति और व्यवहार की नियामक है। किन्तु प्रसादान्त नाटक में जीवन एक ही दृष्टि कोण से देखा जाता है जहाँ उस की मूर्खता, अपूर्णता तथा अव्यवस्थिति का आभास मिलता रहे। यहाँ भाव रूप आदर्श, वाह्य विनोद से ढक जाता है। प्रसादान्त नाटकों का कलात्व वहाँ और अधिक बढ़ जाता है जहाँ नाटककार चारों ओर दलित आदर्शों को देख कर और नियति की कठोरता प्रदर्शित कर अपूर्णताओं को शान्ति पूर्वक अपनाता है और इस प्रकार दुःख और सुख का समन्वय कर देता है, जहाँ जीवन को तटस्थ दृष्टि से देख कर उस की अपूर्णताओं को भी विनोद का एक साधन मान कर आनन्दात्मक स्थिति की कल्पना करता है। प्रसादान्त नाटकों के लक्ष्य में,

उस की कुरूपता में भी युक्ति संगतता रहती है, बुद्धि सम्बंधी प्रयोजन की अन्तर्धारा रहती है जिस कारण वे कला के विषय हो सकते हैं। विषादान्त नाटक तो सम्पूर्ण दृष्टि से देखा गया मानव चरित्र होता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्यों के प्रसादान्त का अर्थ हास्यमय है, हमें उसे प्रसादान्त न कह कर प्रसादमय कहना चाहिए क्यों कि हास्य की तरंग वहाँ आरंभ से अन्त तक होती है। वे हमारे यहाँ के नाटकों के समान नहीं होते जिन में करुणा विप्रलम्भ आदि को तथा जीवन की जटिलताओं को दिखा कर अन्त ही में प्रसाद का चित्रण किया जाता है। बल्कि अरस्तू के कथन से तो यह प्रतीत होता है कि हमारे ये नाटक वास्तव में विषादान्त हैं जो सामाजिकों की दुर्बलताओं को परितोष देने के लिये प्रसादान्त कर दिये जाते हैं। [1] हम तो नायक की अन्तिम अवस्था के अनुसार ही प्रसादान्त अथवा विषादान्त अर्थ लगाते हैं। नाटक कार्य सफल यदि हो गया हो तो नाटक प्रसादान्त है अन्यथा विषादान्त; किन्तु इस कार्य को हम लौकिक दृष्टि ही से देखेंगे। अरस्तू के विषादान्त नाटक जिन में मानव शक्ति का अजेयत्व और नैतिक साफल्य दिखाया जाता है नाटक की मृत्यु के कारण विषादान्त हो हैं, पाश्चात्यों के अनुसार जो प्रसादान्त नाटक हैं वे हमारे हास्य रस के नाटक हैं, जिन्हें हम शुद्ध नाटकों की कोटि में गिन भी नहीं सकते। हास्य का प्रदर्शन हमारे यहाँ या तो भाण में होता है अथवा अन्य नाट्य प्रभेदों में जहाँ तादात्म्य

1—"Tragic poets are tempted to gratify the weakness of their audience by making happy *endings to their tragedies.*"

अवश्यम्भावी अंग नहीं है। हास्य रस के पात्र के साथ तो हम तादात्म्य कभी भी नहीं कर सकते। उसे तो हम सदैव विषय रूप में देखेंगे। हाँ हमारी सहानुभूति अवश्य उस के साथ रहती है। हम उस की मूर्खताओं पर हँसते हैं तो उस की दुरवस्था पर खेद भी प्रकट करते हैं।

अतएव प्रसादान्त की हेयता के विषय में लिखी हुई पाश्चात्यों की युक्तियाँ हमारे नाटकों पर लागू नहीं हो सकतीं। हमारे प्रसादान्त और उन के विषादान्त में यही अन्तर है कि वे निरन्तर दुःख मानते हैं और हम, संसार में सुख का अवश्यम्भावित्व देखते हैं। पाश्चात्य नाटकों का हमारे ऊपर यह प्रभाव अवश्य पड़ा है कि आज दुःख के बाद सुख का अवश्यम्भावित्व हम स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है। दुःख के बाद सुख आ सकता है, हम अभी भी यह नहीं मानते हैं कि हमारे जीवन में दुःख ही दुःख है, सुख है ही नहीं। इसके अतिरिक्त नाटकों में रस की उद्दीप्ति के अतिरिक्त बुद्धि सम्बन्धी भोजन की भी आवश्यकता हम आज प्रतीत करने लगे हैं। बुद्धि के विकास के साथ साथ कला में भावना के साथ.साथ चरित्र चित्रण की भी माँग है। नायक के साथ तादात्म्य ही का अनुभव करने से हम सन्तुष्ट नहीं रहते, हम तो यह भी सन्तोष ग्रहण करना चाहते हैं कि चरित्रों में जो मानव जीवन प्रदर्शित किया जा रहा है उसका विवेचन हम कर रहे हैं और इस प्रकार मानवता के विभिन्न अगों को समझ रहे हैं। नाटककार हमें इस ओर जहाँ तक भोजन देता है उसे पचाने में जहाँ तक सहायता देता है उतना ही हम उसे महान समझते हैं। बर्नार्ड शॉ इसीलिए अच्छा नाटककार है। हम समझने लगते हैं कि हम मानव चरित्र

के ज्ञाता हो गये हैं। हम भावना चाहते हैं किन्तु ऐसी जिस का विवेचन हमारा मस्तिष्क कर सके। भावना के ऊपर बुद्धि की प्रधानता मानव विकास के साथ बढ़ती ही जावेगी। किन्तु आज भी सफल नाटककार वही होगा जो कि रस और चरित्र चित्रण दोनों को स्थान दे, सामाजिक को चरित्र समझने में सहायता दे, किन्तु इस प्रकार कि वह, चरित्र का विवेचन करते करते, रस ही को प्रधान रूप में ग्रहण करे। बाद में मंच से बाहर आ कर चाहे वह मस्तिष्क को दौड़ाता फिरे।

१२—विषादान्त नाटक और करुण रस

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के साथ साथ हम लोगों की विषादान्त नाटकों में रुचि बढ़ गई है। इनमें जीवन की अधिक चित्रण होने के कारण हम उन में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखने लगे हैं। हमारे अनुभवों में निराशा और दुःख ही अधिक हैं। सामाजिक दुरवस्था से पीड़ित हम, नवीन मार्ग की खोज करना चाहते हैं, प्राचीन यदि भला भी हो उसे तोड़ कर आगे बढ़ना चाहते हैं। यही कारण है कि हम अपने साहित्य में विषादान्त नाटकों का अभाव देख कर साहित्य को अधूरा देख रहे हैं। हमारे नाट्य शास्त्रियों ने विषादान्त नाटक के लिए एक दम नाँही कर दी है, कम से कम उन का अर्थ लगाने वाले हमारे प्राच्य विद्वानों ने ऐसा ही समझा है। और इन के अर्थ को पुष्ट करने का सब से बड़ा प्रमाण जो उन्हें मिलता है विषादान्त नाटकों की रचना का अभाव।

नाटक विषादान्त क्यों नहीं हो सकते? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि नाटक में नायक के साथ तादात्म्य का अनुभव करने के लिए नायक की मृत्यु नाटक में नहीं

हो सकती। हम यह प्रतीत नहीं कर सकते कि हम मर गये। ज्यों ही नायक की मृत्यु होती है नाटक को विषय रूप में हम देखने लगते हैं। हमारा तादात्म्य उसी समय बन्द हो जाता है। दूसरे नायक असफल यदि होता है तो किसी दुर्बलता के कारण। हम किसी दुर्बलता का अपने ऊपर आरोप नहीं कर सकते। दुर्बल के साथ हमारा तादात्म्य संभव नहीं है। इस के अतिरिक्त हमारे नाटककारों ने जीवन का कोई ऐसा चित्र उपस्थित नहीं किया है जो कि स्वयं उन को इष्ट न हो। प्राच्य नाटक सदैव आदर्शात्मक रहे हैं, यथार्थात्मक नहीं।

जहाँ तक तादात्म्य से प्रयोजन है, हम यही कह सकते हैं कि नाटक में मृत्यु, बीच में नहीं दिखानी चाहिए। जूलियस सीज़र को नायक बना कर उस का अन्त कर के नाटक का क्रम फिर चला दिया जाता है। उस स्थान से नाटक अवश्य ही प्रमेय रूप में देखा जाता है अन्यथा हमें दूसरे नायक ब्रूटस के साथ तादात्म्य की आवश्यकता पड़ जाती है जिस में पूर्ण नायकत्व न होने के कारण तादात्म्य भी पूर्णतया नहीं हो सकता। किन्तु अन्तिम दृश्य में नायक का अन्त जहाँ दिखाया जाता है वहाँ क्या आपत्ति हो सकती है ? कुछ कहने लगते हैं कि रस की प्रतीति में व्यवधान हो जाता है। किन्तु कब ? तभी जब कि नायक की मृत्यु हो जाती है। उस के पहिले बाह्य स्थितियों से और दैव शक्ति से युद्ध करते हुए नायक के जीवन को हम अपना जीवन समझते हैं। जिस भावात्मक तीव्रता के साथ वह विरोधी शक्तियों से युद्ध करता है उस सब की प्रतीति हम को होती रहती है। मृत्यु से पहिले जिस उच्चतम भावाधिक्य के साथ वह अन्तिम प्रयासात्मक आघात करता है वह हमें रस के उच्चतम

शिखर का आभास कर देता है। उस के बाद मृत्यु तो नाटक का अन्त है ही। प्रसादान्त नाटकों में अन्त में नायक और नायिका का मिलन अथवा विवाह तो हमारे अन्दर रसानुभूति उत्पन्न नहीं करता। उस के पहिले ही शृंगार की जो तीव्रता होती है उसी की हम प्रतीति करते हैं। उसी में नाटकत्व है। अन्तिम समय का मिलन अथवा विवाह तो घटना मात्र है, जैसे कि विषादान्त नाटकों में मृत्यु उस के पहिले की उच्चतम शुद्ध भावावस्था ही हमारी चर्वणा का विषय है।

दूसरी आपत्ति भी कि नायक की दुर्बलता के कारण हम उस से तादात्म्य का अनुभव नहीं कर सकते युक्ति संगत नहीं है। ये दुर्बलताएँ इस प्रकार की नहीं होनी चाहिएँ कि हम उन्हें नैतिक दृष्टि से हेय समझने लगें, या वे ऐसी न हों कि उन के दीर्घत्व के कारण हम विस्मृत अवस्था में भी उन का अपने ऊपर आरोप न सह सकें। नाटक देखते समय हमारा मन विवेचनात्मक रहता ही नहीं। इसलिए सामान्य दुर्बलताएँ जिन का मनुष्य में होना स्वाभाविक है हम को खटकती ही नहीं। वरन् नाटक देखते समय हमें यह ज्ञात भी नहीं होता कि नायक में कोई दुर्बलता है, जिस के कारण वह असफल हो रहा है। इस के विरुद्ध हमें तो नायक के महान् व्यक्तित्व का परिचय दिया जाता है जो अपार दैवी शक्ति से युद्ध करते हुए अपनी अनंत शक्ति का प्रदर्शन करता रहता है, जो दैवी शक्ति के सम्मुख घुटने टेकने के वजाय अपने अहंकार को वरावर जमाए रहता है, चाहे इस में उस के शारीरिक बन्धन का विनाश हो जाय।

विषादान्त नाटकों में मानव जीवन का जो आदर्श स्थापित किया जाता है (अथवा अरस्तू के अनुसार जो किया

जाना चाहिए) उस में कोई हेयता नहीं है। उस में वास्तविकता दिखाई जाती है। इस संसार में मनुष्य को तिनके के समान दिखाया जाता है किन्तु मनुष्य की आन्तरिक शक्ति को सदैव अजेय ही दिखाया जाता है। विरुद्ध शक्तियों से मनुष्य युद्ध करता रहता है किन्तु अपने शरीर के विनाश ही में वह मानवता की अनंतता का प्रदर्शन कर जाता है। अतएव विषादान्त नाटकों में पूर्ण नाटकत्व सम्भव है और हमें उन के प्रति कलुषित बुद्धि नहीं धारण करनी चाहिए।

अरस्तू का कहना कि विषादान्त नाटक नियति के साथ असम शक्ति से युद्ध करती हुई मर्त्य मनः शक्ति का प्रतिपादन करता है, चाहे उस नियति का प्रदर्शन मस्तिष्क के अन्दर की (मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताओं) अथवा बाहर की शक्तियों के द्वारा हो। यह संघर्ष अपने विषादपूर्ण अन्त को तब पहुँच जाता है, किन्तु उस के नाश के द्वारा संसार का असंगत क्रम ठीक कर दिया जाता है और नैतिक शक्तियाँ फिर से अपना प्रभुत्व जमा देती हैं, दुख का भाव नैतिक विजय में खो जाता है।[1] (मनुष्य

1—"Tragedy in its pure idea shows us a mortal will engaged in an equal struggle with destiny, whether destiny be represented by the forces within or without the mind. The conflict reaches its tragic issue when the individual perishes, but through his ruin the disturbed order of the world is restored and the moral forces re-assert their sway—the sense of suffering consequently lost in that of the moral triumph.

के मनोवल तथा आत्मिक जीवन के प्राधान्य के कारण शारीरिक विनाश गौण हो जाता है। नाटक है तो मानव भाग्य का चित्र, जिस में उस के सब अंगों का प्रतिपादन कर दिया जाता है, किन्तु वास्तविकता उस में सविशेष होती है, इतनी कि उस में सत्यता का भी आरोप कर दिया जाता है, आत्मा की निरन्तर सत्ता का आभास दे दिया जाता है। उस का लक्ष्य सांसारिक अनुभूतियों को प्रदर्शित करना है किन्तु उन के शुद्ध रूप में, उत्तेजनाओं को शुद्ध कर के ही।

हमारे सामने एक प्रश्न अब आता है। वास्तविक जीवन के करुण दृश्यों को देखना कठिन होता है, वे हमें कष्ट पहुँचाते हैं किन्तु वे ही नाटक में प्रदर्शित होने पर हमें अच्छे लगते हैं। इस का कारण क्या है? नाटक में प्रदर्शित रस शुद्ध रूप में आते हैं। उन के साथ हमारा वास्तविक अतएव शारीरिक सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा के विषय होने के कारण और आत्मा के लिए सुख और दुःख समान होने के कारण वे हमें दुःख नहीं देते। दुःख तो हमारा शरीर अनुभव करता है। अपने शुद्ध रूप में करुण रस आत्मा की अवस्था विशेष है जिस से शारीरिक पीड़ा से, सुख से कोई प्रयोजन नहीं है। दुःख में पीड़ा, अशान्ति तथा क्षोभ (उस स्वार्थ के कारण होते हैं जो वास्तविक संसार में इन भावों के साथ सम्बद्ध रहता है। पीड़ा तो उसी दम काफ़ूर हो जाती है जब कि अहमता का, स्वार्थ का पुट) हट जाता है, जब वास्तविक घटनाओं का हमारे जीवन की प्रगति से कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं रहता, जब कि आत्मा का इन वस्तुओं से औपयोगिक सम्बन्ध नहीं रहता।

रोने से तथा अपनी दुःख कथा कहने से जी हलका हो

जाता है क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य उस भाव विशेष के वास्तविक बन्धन से छूट कर भाव विशेष को अपने से पृथक विषय रूप में देखने लगता है। इस प्रकार धीरे धीरे दु ख से वास्तविक (शारीरिक) सबध न हो कर केवल भावात्मक सबध रह जाता है, दु ख अपने शरीर का न हो कर आत्म जगत का सम्बन्धी हो जाता है। भवभूति का 'परीवाह' परिक्रिया' यही अर्थ रखता है कि जी को हल्का करने के लिए आँसू का बाहर निकल जाना आवश्यक है। दु ख को दबाने के लिए हमें चाहिए कि वस्तुओं स हम शुद्ध निर्लिप्त सबध रक्खें। अतएव कला में ऐसे अग की आवश्यकता होती हे जो स्वतत्र साधारण आत्मा के सम्मुख शोधक शक्ति का व्यजित करे। काव्य का साधारणीकरण यही अर्थ रखता है। काव्य का करुण रस शुद्ध रूप में आ कर मनुष्य के दु खों को भुला देता है। काव्य में करुणा का शुद्ध रूप में प्रदर्शन होने क कारण हमारे ऊपर से वह बोझ भा हट जाता हे जो कि लौकिक जीवन का घटनाएँ हमारे ऊपर डालती हैं। भावनाओं को विषय रूप में रख कर अपने स पृथक उन क स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न हम यदि करें तो आत्मा अवश्य ही उनस स्वतत्र होने की इच्छा करेगी, क्यों कि वह प्रमाता है और प्रमेय स भिन्न होनी चाहिए। लौकिक जीवन में मनुष्य का अहकार, भावना स पृथक नहीं हो पाता और इस कारण वह भावना के ऊपर अधिकार भी नहीं कर सकता। करुणा आदि के प्रदर्शन विषय रूप में आ कर चैतन्य के विषय हो जाते हैऔर तब विषयी (प्रमाता) उन स स्वतत्र हो जाता है। यही कारण है कि नाटक की घटनात्मक वास्तविकता हम स साक्षात् सबध नहीं रखता। वह तो केवल काल्पनिक जगत की वस्तु रहती हे। इस प्रकार कोई भा

भाव चाहे वह शृंगार हो अथवा करुणा हम से इन्द्रियात्मक संबंध नहीं रखता और इसीलिए भाव मात्र हमें न तो ऐन्द्रिय सुख देते हैं और न ऐन्द्रिय दुख, भाव मात्र होने के कारण वे, आत्मा ही में अवस्था विशेष उत्पन्न कर जाते हैं।

एक और कारण है जिस से हम विषादान्त नाटकों को चाहते हैं। उन में हम अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखते हैं। समस्त संसार को आत्ममय देख कर हम परितोष का अनुभव करते हैं तथा दूसरे के दुःख में अपने दुःख को देख कर उसे सामान्य समझने लगते हैं। दुःख का अनुभव अधिक तभी होता है जब कि सुख उस के सामने रक्खा रहता है। दुःखियों के बीच में दुःख बँट जाता है। निराश प्रेमियों को एक साथ रहने में आनंद आता है। दुःख में मनुष्य के लिए सब से बड़ा संतोष यह होता है कि मनुष्य उस के दुःख को समझ लें, उस से सहानुभूति करें, उस के दुःख से दुखी हों। प्रत्येक प्राणी, संसार को आत्ममय देखना चाहता है। विषादान्त नाटक का करुण रस, सामाजिक के सामने संसार को दुःखमय दिखाता है जिस में वह अपने दुःख का प्रतिबिम्ब पा कर संतोष पा ले। और इस नाटकीय दुःख की विशेषता यह है कि वह सामाजिक के जीवन में अथवा शरीर के साथ लगा हुआ दुःख नहीं रहता। यह भाव रूप दुःख उस के शारीरिक दुःख को गौण कर के आत्मा को स्वतंत्र कर देता है।

वास्तविक जीवन में भी मनुष्य रोता है तथा अपनी दुःख कथा दूसरों से कहता है क्यों कि इस में उसे आनंद आता है। निराश प्रेमियों को बहुतेरा यह कहते हुए सुना जाता है कि वे अपनी प्रेमिका को भूल जाना चाहते हैं, यह झूठ है, वे कभी नहीं भूलना चाहते। उन्हें उस का वर्णन करने में,

उस के विषय की अपनी निराशा के वर्णन करने में आनंद आता है। इस के मूल में यही रहस्य है कि मनुष्य उतनी देर तक अपनी दु:ख गाथा को अपने से पृथक हो कर केवल विचारशील मन की वस्तु रह जाता है, उस का शारीरिक सम्बन्ध खो जाता है। नाटक के दुःख वर्णन भी पृथक विषय रूप आते हैं। लौकिक दु:ख वर्णनों के विरुद्ध उन में सदैव ही अवास्तविकता रहती है। आत्मा का भी उन के अधीन नहीं होती। लौकिक संसार के दुःख अपनी वास्तविक स्थिति के कारण आत्मा को पराधीन रखते हैं, क्यों कि आत्मा को आनंदमय होने के लिए शरीर से उन का सम्बन्ध हटाने के प्रयत्नशील रहना पड़ता है। आत्मा के आनंद के लिए यह आवश्यक है कि उस का वस्तु से सम्बंध न रहे। शृंगार; करुण अथवा किसी भी रस में यह हो सकता है।

विषादान्त नाटक में करुण के अतिरिक्त (यूनानी मत के अनुसार) भयानक का भी समावेश रहता है। नायक के दु:ख को हम जब विषय रूप में देखते हैं तब आशंका के कारण हम भय का अनुभव करते हैं। यद्यपि यह भय सांसारिक भय ही के समान होता है फिर भी इन दोनों में काफी अन्तर होता है। नाटक का भय संकुचित स्वार्थ अथवा नीच प्रकृति की आशंका से रहित रहता है। विषादान्त नाटक में उप स्थित भय फिर भी वस्तु सम्बन्धी नहीं रहता। अपने किसी निकटतम सम्बन्धी को मृत्यु को सम्मुख देख कर जो मूर्छा हमें आती है वह, नाटक में नहीं आती। नाटक में हमारा मस्तिष्क चेतनाशून्य नहीं रहता। नाटकीय भय फिर भी शुद्ध रूप में रहता है और करुण के समान वह, आत्मा ही का सम्बन्धी रहता है। नाटक के करुण और भयानक में वास्तविकता यदि रहती है तो केवल इतनी ही कि मानव

जीवन के प्रदर्शन होने के कारण वे सामाजिक का मानव मात्र के साथ तादात्म्य करा देते हैं। सामाजिक यह तो नहीं प्रतीत करता कि यह दुरवस्था उस की (शरीर से सम्बद्ध आत्मा की) है किन्तु यह अवश्य जान लेता है कि वह मानवता की है जो उस से अभिन्न है।

१३—अभिनवीय रसनाभूति

हमारे जीवन के साधारण अनुभव तीन कोटियों में विभाजित किये जा सकते हैं जाग्रत अवस्था के, सुप्त के तथा सुषुप्त के। प्रत्येक में दो वस्तुओं का अवश्यम्भावित्व है–प्रमाता तथा प्रमेय। अनुभव का अर्थ ही यह है कि वाह्य पदार्थ का आन्तरिक दर्पण (अर्थात् चित्त) के ऊपर प्रतिविम्ब पड़ जाय (प्रतिविम्बित वस्तुओं को ग्रहण करने वाली आत्मा ही चित् है)। अथवा दूसरे शब्दों में प्रमाता द्वारा प्रमेय का ग्रहण ही अनुभव है।

जाग्रत अवस्था के अनुभवों में मन, बुद्धि और अहंकार के अतिरिक्त पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च वायु (प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान) होते हैं। "यह काला है" इस अनुभव में 'यह' कर्म सामान्य है।[1] 'कला' वस्तु का गुण है। हमारे नेत्र वस्तु को प्रतीत करते हैं। इस पर बुद्धि क्रिया करने लगती है। उस का कार्य यह है कि वह वाह्य वस्तु का प्रतिविम्ब, आन्तरिक दर्पण अर्थात् चित् पर ग्रहण कर ले।। अभी तक हमारा ज्ञान निर्विकल्प कोटि का है। मन की क्रिया न होने के कारण तथा जो वस्तु

1—Objectivity in general. 'यह' का अर्थ सदैव ही एक प्रमेयभूत वस्तु है।

देखी गई है उस का विश्लेषण आदि न होने के कारण वस्तु का स्वरूप अभी तक मन के सामने अस्पष्ट है। किन्तु मन जब उस वस्तु से सबंध जोड़ लेता है तथा पूर्व अनुभवों के साथ उस की तुलना कर के उस की स्थिति को निश्चित कर देता है तब वही ज्ञान सविकल्प हो जाता है। प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाले आत्मा अथवा चित् को प्रमाता का नाम दिया जाता है तथा ग्राह्य वस्तु को प्रमेय का। प्रमाता तथा प्रमेय के संबध के अनुसार ही वस्तु की स्थिति निश्चित की जाती है। उदाहरण के लिए एक रत्न को लीजिए। भिन्न मनुष्यों के लिए उस का मूल्य भिन्न है। यह उसी की विश्लेषणात्मक शक्ति, वस्तु के प्रति क्रियाशीलता, तथा वर्तमान मनोवृत्ति पर निर्भर है। जब हम आराम करना चाहते ह तब तो कुर्सी एक आसन है, वही आवश्यकता के अनुसार हथियार का काम देती है। अस्तु।

सुप्तावस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया नहीं करतीं, केवल पाँच वायु तथा मन, बुद्धि अहकार ही क्रियाशील रहते ह। यहाँ प्राण नामक वायु का अर्थ आत्मिक शक्ति है। यह चित्त की वह सामर्थ्य है जिस की क्रिया ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रतीत की जाती है। सुप्त अवस्था म केवल पच वायु तथा अहकार ही क्रियाशील होते हैं। मन तथा बुद्धि की क्रिया का भी अभाव रहता है। यहाँ अनुभव यही है कि मं ने कुछ भी अनुभव नहीं किया। यहाँ अहकार शून्य है। 'अह' (मैं) की कुछ भी क्रिया न रही। किन्तु रसानुभूति की अवस्था में केवलता का अनुभव कराने वाली इन्द्रियों अथवा पंच वायु का सर्वथा अभाव है। रसानुभूति में तो साधारणत्व ही होता है। आत्म की स्वतत्रता में बाधा पहुँचाने वाली सभी

वस्तुओं का तिरोभाव हो जाता है। इसी को चित्त की भग्नावरणता भी कहते हैं आत्मा का आवरण (covering) जब टूट जाता है तब स्वतंत्र रूप आत्मा के दर्शन हो जाते हैं। आत्मा का स्वयं को बन्धन रहित अवस्था में जान लेना ही रसानुभूति है। यहीं आत्मा की केवलता का नाश हो जाने पर उस में साधारणत्व आ जाता है। अतएव नाटककार का उद्देश्य यही होता है कि आत्मा को ससीम करने वाली वस्तुओं का प्रदर्शन न किया जाय। इसीलिए नाट्य शास्त्र अभिनय के उन नियमों का प्रति पादन करता है जो इन बंधनों को दूर करने में समर्थ हों। भरत नाट्य शास्त्र तथा दश रूपक आदि ग्रंथ इन बंधनों (अथवा पूर्यष्टक) के तिरोभाव करने वाले नियमों का उल्लेख करते हैं। क्रिया-संघर्ष आदि को पाश्चात्य नाट्य शास्त्रियों ने प्राधान्य दिया है, भारतीय साहित्य शास्त्रियों के ग्रंथों में इन्हें प्राधान्य नहीं दिया गया है। यदि ये साधारणी भाव के हेतु प्रयोजनशील हैं तभी इन का अन्तर्भाव है अन्यथा नहीं।

आत्मा के कुछ बंधन उस के साथ सदैव रहते हैं। शैव मत ने उन की संख्या पाँच बताई है, काल, नियति, राग, विद्या और कला। काल से तात्पर्य क्रम रूप में देखना है। वस्तुओं को सम्बद्ध अथवा कार्य कारण रूप में देखना नियति है। वस्तु की ओर चित्त की स्वाभाविक क्रिया अथवा प्रवृत्ति राग है। परिमित अथवा ससीम ज्ञान विद्या है। ससीम अथवा परिमित क्रिया कला है। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट, काल तथा देश (टाइम ऐण्ड स्पेस) दो को मानता है। किसी प्रमेय को देखने पर प्रमाता उसके साथ जो संबंध करेगा उस में इन सीमाओं का अवश्यम्भावित्व होगा। आत्मा इन बंधनों को ले कर ही उस वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित करेगी।

जिस वस्तु को भी आत्मा देखेगी उस को क्रम का व्यवधान रख कर देखेगी। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु जब मनस के सामने आयेगी तब देश का भाव भी उस के साथ आवेगा। यह नहीं हो सकता है कि पुस्तक का ध्यान में बिना देश के (स्थान से सम्बद्ध पुस्तक ही) कर सकूं। अस्तु, रसानुभूति की अवस्था में चित्त के ये बन्धन नहीं रहते। रस की परिभाषा करते समय उसे विषयास्वाद रहित तथा ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। उस में लौकिक आनंद (विषयों का आस्वाद) नहीं रहता। वह तो ब्रह्मानंद का सगा भाई है। उस में चित्त साधारण अवस्था से उठ ही नहीं जाता अपितु काल नियति आदि बंधन भी हट जाते हैं। यों तो साधारण अनुभवों में दो भेद हो सकते हैं। वे प्रतीति (percept) तथा ज्ञान (concept) के मिश्रण होते हैं। इन्द्रियों की वस्तु के प्रति क्रिया, प्रतीति है, तथा उस के प्रति मन की क्रिया, ज्ञान है। रस प्रतीति इस प्रतीति तथा ज्ञान से परे है।

सांसारिक अनुभवों में हमें एक बात विशेष रूप से दीखती है। हम बहुत से रूपों को भिन्न-भिन्न समय पर देख कर अन्त में उस के विषय में एक धारणा कर लेते हैं। बहुलता से एकता को ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ 'अच्छा' शब्द को लीजिए। हमने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अच्छे को कई रूपों में देखा। उन सब के अनुसार हमने अच्छे की एक धारणा बना ली। इस प्रकार यह धारणा अथवा ज्ञान (concept) बहुतों से गृहीत एकता (unity in multiplicity) हुई। जब हम 'कुर्सी' कहते हैं तो भिन्न-भिन्न अवयवों से समुद्भूत एक वस्तु का ज्ञान होता है। अतः यहाँ अंत में जो एकता है वह बहुत-सी वस्तुओं के सम्बन्ध का सार है। साधारण अनुभवों में यह सम्बन्ध ही वह अवच्छेदक धर्म है जो इस

को रसानुभूति से भिन्न करता है। सम्बन्ध का तिरोभाव जब हो जाता है आत्मा तभी अपने स्वतंत्र रूप में प्रकट हो जाती है। यों तो आत्मा प्रत्येक वस्तु को अपने से पृथक जान कर उस से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध रखती है। 'यह पुस्तक है, कहने में हम पुस्तक को पृथक वस्तु मान कर स्वयं से उस का सम्बन्ध निश्चित करते हैं। रसानुभूति में इस सम्बन्ध को हटा दिया जाता है। काल के न होने पर सम्बन्ध नहीं रहता तथा सम्बन्ध के न रहने पर अनेकता भी नहीं रहती।

यदि हम विचार करें तो संसार की प्रत्येक वस्तु जिसे हम एक देखते हैं अनेकों से बनी हुई है। ज्ञान रूप में तो वह एक है किन्तु प्रतीति रूप में वह अनेक है। 'कुर्सी' कहने से मस्तिष्क में एक वस्तु का ज्ञान होता है किन्तु उस की प्रतीति करने पर उस के भिन्न-भिन्न अवयव स्पष्ट हो कर उस की अनेकता को सूचित करते हैं। इस प्रकार प्रमेय वस्तु सदैव ही अनेक रूप है। और भाषा भी जो उसी के हेतु प्रयुक्त संकेत है, अनेकता में एकता है। प्रत्येक वस्तु जो एक समझी जाती है, विश्लेषण (मानसिक क्रिया) करने पर अनेक हो जाती है। मानसिक क्रिया के होने पर, अनेकता में एकता भी न होगी और इस प्रकार प्रमेयता भी न होगी अर्थात् प्रमाता से भिन्न दूसरी वस्तु का (प्रमेय रूप में) ज्ञान ही न होगा। ऐसी ही अवस्था में रसानुभूति हो सकती है। रसानुभूति में अनेकता के न होने के कारण मन की एकीकरण शक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। प्रतीतियों को ग्रहण कर के मन, एक ज्ञान अथवा धारणा बनाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत करता। अतएव प्रतीति रूप निर्विकल्प ज्ञान तथा निश्चय रूप सविकल्प ज्ञान का अवकाश नहीं रहता। इसीलिये रस

को इन दोनों ज्ञानों से भिन्न माना है। भाषा भी अनेकता से उद्भूत एकता के लिए प्रयुक्त की जाती है, और रसानुभूति में 'अनेकता में एकता' का अवकाश नहीं है अतएव भाषा यहाँ प्रयोजक सिद्ध नहीं हो सकती। इसीलिए तो रस को अनिर्वचनीय कहा है।

रसानुभूति की अवस्था को सुषुप्त अवस्था से मिलता जुलता कहा गया है। सब से बड़ा अन्तर जो इन में है वह यह है कि रसावस्था में सत्व का प्रकाशन होता है तथा सुषुप्त में तमस (अज्ञान) का। गुण तीन हैं, सत्व (ज्ञान रूप), रजस् (क्रिया रूप), तमस् (मोह अथवा अज्ञान रूप)। प्राकृत रूप में आत्मा, अज्ञान ही में रहती है। सत्व की क्रिया तमस् को कुछ अंश तक हटाये रहती है, किन्तु सुषुप्त अवस्था में सत्व (ज्ञान) की क्रिया न होने के कारण आत्मा तमस् ही के आधीन रहती है। मानसिक क्रिया न होने के कारण सत्व का अवकाश नहीं रहता। वहाँ अनुभव तो यही रहता है कि आत्मा को कुछ भी ज्ञान नहीं हो रहा है। अभाव की स्थिति भाव ही पर निर्भर होती है। हम अभाव की प्रतीति तभी कर सकते हैं जब कि भाव से उस की तुलना करें, भाव के सम्बन्ध में उस को समझें। इस प्रकार सुषुप्तावस्था में ज्ञान निश्चयात्मक सविकल्प हो जाता है, जब कि रसावस्था में उस का निश्चय ही नहीं हो सकता। शून्य के अनुभव में मोह से छुटकारा नहीं मिलता क्योंकि वहाँ भाव की स्मृति साथ लगी रहती है। और स्मृति की स्थिति तभी होती है जब बाह्य वस्तु से सम्बन्ध हो। इस प्रकार सुषुप्त अवस्था में हम यह अनुभव करते हैं कि एक अनुभव था अवश्य; अर्थात् अभाव का अनुभव था, यही अनुभव को प्रमेय रूप बताता है। शून्य की स्मृति होने का अर्थ है कि वह

केवल प्रमातृ रूप (आत्मा ही का) अनुभव नहीं था क्यों कि प्रमातृ रूप अनुभव तो स्मृत ही नहीं किया जा सकता। रसावस्था न तो अभाव है और न किसी भाव ही की निश्चयात्मक स्थिति है। यह तो आत्मा का स्वयं प्रकाशन है, जिस के विषय में प्रमेयता हो ही नहीं सकती।

रसानुभूति न तो निषेधात्मक अनुभूति है और न इस में प्रमेय वस्तु की स्पष्टता ही है। रसानुभूति की उत्पत्ति तो प्रमाता की परिमितताओं के शनैः शनैः निराकरण द्वारा होती है। आत्मा के इन बन्धनों का निराकरण ही नाटक का मुख्य विषय होता है। यही कारण है कि नाटकों में सर्व प्रथम तीन ज्ञानेन्द्रियाँ (स्पर्श, स्वाद और गन्ध) पृथक कर दी जाती हैं। इन के रहने पर आत्मा, स्वतंत्र नहीं रह सकती। नायिका के स्पर्श का अनुभव सामाजिक उस प्रकार नहीं कर सकते जैसा कि नायक करता है। अतएव उन्हें स्पर्श का अनुभव न होने के कारण तादात्म्य का अवकाश नहीं रहता। ज्यों ही स्पर्श प्रदर्शित किया जायगा, सामाजिकों में व्यक्तित्व भिन्न हो जायगा। देखना और सुनना तो साधारण है। नायक यदि देखता है तो सामाजिक भी देखते हैं। नायक जैसा सुनता है, सामाजिक भी वैसा ही सुनते हैं।

अब हमें यह देखना है कि रसानुभूति का उदय होता किस प्रकार है। सहृदय लेखक की अनुभूतियों की प्रतीति करने के लिए नाटक देखा जाता है। नाटक में प्रथम ही ऐसा स्थल प्रदर्शित किया जाता है कि सामाजिक अपने व्यक्तित्व को भूलने लगते हैं। संगीत का उद्देश्य ही यह होता है कि सामाजिकों में आत्म-विस्मृति की अवस्था उत्पन्न करा दे। ऐसी अवस्था में वस्तु जिस रूप में प्रदर्शित की जाती है उसी रूप में वे उसे ग्रहण कर जाते हैं। अन्यथा राम भक्त हिन्दू

रंग मंच पर आई सीता को जगन्माता ही के रूप में देखते। अपने व्यक्तित्व के भुलाये जाने पर ही राम का भक्त, सीता को माता न मान कर साधारण नायिका के रूप में देखता है। नाटक में नान्दी का प्रयोजन भी आत्म विस्मृति की उत्पत्ति था। आत्मविस्मृति होने पर नायक का प्रधान रूप में मंच पर आना उस से तादात्म्य करा देता है। व्यक्तित्व की पूर्ण विस्मृति होने पर आत्मा स्वतंत्र रूप में हो जाती है। वह केवल स्थायी भावों से युक्त रहती है।

नाटक में वस्तुओं का प्रदर्शन भिन्न रूप में ग्रहण किया जाता है। साधारणतया वस्तुओं की प्रतीति दूसरे ही रूप में होती है। पहिले तो वस्तु, इन्द्रियों के सम्मुख आती है। मनस् उस के प्रति, क्रिया करता है। निर्विकल्प ज्ञान के बाद ज्ञान सविकल्प हो जाता है। मनस् उस वस्तु विशेष का अपने कोष में से मूर्त चित्र खींचता है। उस के बाद स्मृति कोष में से उसी प्रकार का चित्र टटोला जाता है। फिर उस नाम को याद किता जाता है जिस से वह वस्तु सम्बद्ध थी। और तब वर्तमान वस्तु जिस का ज्ञान सविकल्प हो चुका है उस विशेष नाम से सम्बोधित की जाती है। किन्तु नाटक के क्षेत्र में प्रतीति भिन्न होती है। नाटक में वास्तविकता नहीं होती है वरन् होती है व्यंग्यता। नाटक व्यंजित करते हैं। किसी वस्तु का प्रदर्शन इस हेतु करते हैं कि कल्पना शक्ति सक्रिय हो जाय और किंचित् प्रदर्शित वस्तु का संपूर्ण चित्र, मनस् द्वारा प्रतिपादित कर लिया जावे। 'मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, मैं सब कुछ सह लूंगा', इस में 'राम' शब्द का अर्थ व्यंजना द्वारा अत्यधिक विस्तृत हो जाता है। अनेकों भाव इस शब्द के द्वारा मस्तिष्क में आ जाते हैं। यह केवल व्यंजना व्यापार से। इस काल्पनिक चित्र को उद्दीप्त करने

केवल प्रमातृ रूप (आत्मा ही का) अनुभव नहीं था क्यों कि प्रमातृ रूप अनुभव तो स्मृत ही नहीं किया जा सकता। रसावस्था न तो अभाव है और न किसी भाव ही की निश्चयात्मक स्थिति है। वह तो आत्मा का स्वयं प्रकाशन है, जिस के विषय में प्रमेयता हो ही नहीं सकती।

रसानुभूति न तो निषेधात्मक अनुभूति है और न इस में प्रमेय वस्तु की स्पष्टता ही है। रसानुभूति की उत्पत्ति तो प्रमाता की परिमितताओं के शनैः शनैः निराकरण द्वारा होती है। आत्मा के इन बन्धनों का निराकरण ही नाटक का मुख्य विषय होता है। यही कारण है कि नाटकों में सर्व प्रथम तीन ज्ञानेन्द्रियाँ (स्पर्श, स्वाद और गन्ध) पृथक कर दी जाती हैं। इन के रहने पर आत्मा, स्वतंत्र नहीं रह सकती। नायिका के स्पर्श का अनुभव सामाजिक उस प्रकार नहीं कर सकते जैसा कि नायक करता है। अतएव उन्हें स्पर्श का अनुभव न होने के कारण तादात्म्य का अवकाश नहीं रहता। ज्यों ही स्पर्श प्रदर्शित किया जायगा, सामाजिकों में व्यक्तित्व सिद्ध हो जायगा। देखना और सुनना तो साधारण है। नायक यदि देखता है तो सामाजिक भी देखते हैं। नायक जैसा सुनता है, सामाजिक भी वैसा ही सुनते हैं।

अब हमें यह देखना है कि रसानुभूति का उदय होता किस प्रकार है। सहृदय लेखक की अनुभूतियों की प्रतीति करने के लिए नाटक देखा जाता है। नाटक में प्रथम ही ऐसा स्थल प्रदर्शित किया जाता है कि सामाजिक अपने व्यक्तित्व को भूलने लगते हैं। संगीत का उद्देश्य ही यह होता है कि सामाजिकों में आत्म-विस्मृति की अवस्था उत्पन्न करा दे। ऐसी अवस्था में वस्तु जिस रूप में प्रदर्शित की जाती है उसी रूप में वे उसे ग्रहण कर जाते हैं। अन्यथा राम भक्त हिन्दू

रंग मंच पर आई सीता को जगन्माता ही के रूप में देखते। अपने व्यक्तित्व के भुलाये जाने पर ही राम का भक्त, सीता को माता न मान कर साधारण नायिका के रूप में देखता है। नाटक में नान्दी का प्रयोजन भी आत्म विस्मृति की उत्पत्ति था। आत्मविस्मृति होने पर नायक का प्रधान रूप में मंच पर आना उस से तादात्म्य करा देता है। व्यक्तित्व की पूर्ण विस्मृति होने पर आत्मा स्वतंत्र रूप में हो जाती है। वह केवल स्थायी भावों से युक्त रहती है।

नाटक में वस्तुओं का प्रदर्शन भिन्न रूप में ग्रहण किया जाता है। साधारणतया वस्तुओं की प्रतीति दूसरे ही रूप में होती है। पहिले तो वस्तु, इन्द्रियों के सम्मुख आती है। मनस् उस के प्रति, क्रिया करता है। निर्विकल्प ज्ञान के बाद ज्ञान सविकल्प हो जाता है। मनस् उस वस्तु विशेष का अपने कोष में से मूर्त चित्र खींचता है। उस के बाद स्मृति कोष में से उसी प्रकार का चित्र टटोला जाता है। फिर उस नाम को याद किता जाता है जिस से वह वस्तु सम्बद्ध थी। और तब वर्तमान वस्तु जिस का ज्ञान सविकल्प हो चुका है उस विशेष नाम से सम्बोधित की जाती है। किन्तु नाटक के क्षेत्र में प्रतीति भिन्न होती है। नाटक में वास्तविकता नहीं होती है वरन् होती है व्यंग्यता। नाटक व्यंजित करते हैं। किसी वस्तु का प्रदर्शन इस हेतु करते हैं कि कल्पना शक्ति सक्रिय हो जाय और किंचित् प्रदर्शित वस्तु का संपूर्ण चित्र, मनस् द्वारा प्रतिपादित कर लिया जावे। 'मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, मैं सब कुछ सह लूंगा', इस में 'राम' शब्द का अर्थ व्यंजना द्वारा अत्यधिक विस्तृत हो जाता है। अनेकों भाव इस शब्द के द्वारा मस्तिष्क में आ जाते हैं। यह केवल व्यंजना व्यापार से। इस काल्पनिक चित्र को उद्दीप्त करने

वाली शक्ति को नाट्य-जगत् में प्रतिमा का नाम दिया जाता है। इस प्रतीति के समय मानसिक क्रिया सविकल्प न हो कर व्यंग्यात्मक होती है। इस प्रकार मनस् का स्थान प्रतिमा ग्रहण कर लेती है। प्रतिमा वह शक्ति विशेप है जो नाट्य वस्तु से असीम अर्थ ग्रहण कर लेती है।

रस प्रतीति के व्यापार में प्रतिमा के साथ सहृदयत्व भी दूसरी शक्ति है। साधारण जीवन में किसी अनुभूति के होने पर हमारे ऊपर एक प्रभाव रह जाता है जिसे संस्कार का नाम दिया जाता है। शृंगार का अनुभव तभी हो सकता है जब इस प्रकार के संस्कार हृदय में वर्तमान् हों। 'स्तब्ध' (Attention) कहने पर प्रभाव उसी पर होगा जिसे सैनिक शिक्षा दी गई हो। इतर मनुष्य उस अवस्था विशेप पर नहीं पहुँच सकता। किन्तु उस शब्द से परिचित मनुष्य उस के सुनते ही क्रिया करने लगेगा। उस का कारण यह है, जब कि कुछ समय तक हमें एक विशेष अनुभव होता रहता है, तो हमारा मस्तिष्क, हमारे स्नायु उस से इस प्रकार परिचित हो जाते हैं कि शब्द मात्र का उच्चारण होने पर एक पूर्ण अवस्था हमारे सम्मुख आ जाती है, उस का संकेत मात्र पूर्ण को व्यंजित कर देता है। कोयल की कूक का काव्य में यही प्रयोजन है। संपूर्ण शरीर की नसों का केन्द्र हृदय है। शरीर के ऊपर जितने प्रभाव पड़ते हैं उन का अवशिष्ट चिन्ह, हृदय के ऊपर आ जाता है। निरंतर संस्कारों का यह प्रभाव होता है कि अवस्था विशेप की उत्पत्ति के लिए सम्पूर्ण चित्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसी दशा में अवस्थिति के एक अंग का प्रदर्शन करते ही सम्पूर्ण अवस्थिति व्यंजित हो जाती है। यह वासना ही सहृदयत्व है। सहृदय वह मनुष्य है जिस का हृदय इस प्रकार शिक्षित हो

चुका हो कि अवस्थिति के एक अंग के प्रदर्शन पर ही संपूर्ण अवस्थिति उस के सम्मुख प्रकट हो जाय। हमारे सहृदय होने के कारण ही प्रतिभा उन अर्थों को व्यंजित सकती है जो कि शब्द से साक्षात् संकेतित नहीं है।

इस प्रकार अभिनव गुप्त के मतानुसार रस प्रतीति में मानस का स्थान प्रतिभा तथा बुद्धि का स्थान सहृदयत्व ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में आत्मा पर साधारणतया आरूढ़ रहने वाले तथा उस की स्वतंत्रता में बाधा देने वाले मन और बुद्धि को अलग कर दिया जाता है। प्रतिभा और सहृदयत्व का अपना कार्य यही रह जाता है कि प्रस्तुत विभाव आदि को अधिक सार्थक कर दें, ताकि उन से व्यंजित रस अधिक सरलता और वेग से उद्दीप्त हो सके। जिस प्रकार से विभाव आदि रस की व्यंजना कर अपनी प्रयोजनवत्ता को वहीं पर समाप्त कर डालते हैं उसी प्रकार प्रतिभा और सहृदयत्व भी उपस्थित विभाव आदि को अधिक व्यंजकत्व दे कर स्वयं शान्त रह जाते हैं। रस चर्वणा में मन और बुद्धि का विवेचनात्मक व्यापार नहीं रहता और न प्रतिभा तथा सहृदयत्व ही इस व्यंजना के हेतु उपयुक्त अवस्था उत्पन्न करने के बाद टिके रहते हैं। आत्मा तब केवल तथा निर्बाध रूप में प्रकट होती है।

१४—रस सिद्धान्त कुछ पहलू

पश्चिम में 'संघर्ष' जीवन का माप दंड रहा है। पाश्चात्य लोग शान्ति में प्रसन्नता के विश्वासी नहीं। उन का विश्वास योग्यतम के जीवित रहने में है। इसलिए उन का साहित्य संघर्ष को मनो विज्ञान के आलोक में चित्रित करता है और अत्यधिक भौतिक वास्तविकता के स्तर पर जीवन

की जटिलताओं को दिखलाता है । इस कारण उन के कलात्मक आलोचनात्मक साहित्य में व्यंजनात्मक अर्थ का प्रभुत्व है। उन के लिए नाटक, जीवन का कलात्मक चित्रण मात्र है। और जीवन, शरीर के त्रिदिशात्मक रंग मंच पर आत्मा का अभिनय मात्र है। जीवन के प्रति इस दृष्टि कोण के रहने से उन के नाटक, कार्य-चरित्र-चित्रण, और संघर्ष को ही अधिकाधिक महत्व देते हैं। उन के लिए नाटक का मुख्य तत्व, चरित्र के सहारे रंग मंच पर संघर्ष का चित्रण है। संघर्ष, विचारों का अथवा व्यक्तियों का हो सकता है। और यह संघर्ष प्रधान पात्र की मूल प्रवृत्ति के अनुकूल उत्पन्न होना और बढ़ना चाहिए। अभिनीति प्रयोजन अधिकांशतः या तो जीवन का कोई तथ्य होता है या कोई गुण, या कोई सिद्धान्त अथवा कोई संबंधत्व। उन के पात्र, प्रतिनिधि होने की अपेक्षा व्यक्ति अधिकतर होते हैं। पाश्चात्य इस बात में विश्वास नहीं करते कि कुलीनत्व में भी सत् मानवत्व का निवास हो सकता है। इसलिये वे वंशक्रमानुगत गुण दोषों को अधिक महत्व न दे कर वातावरण को ही प्रमुखता देते हैं।

पौर्वात्यों के लिए संघर्ष ही सब कुछ नहीं है। इस पृथ्वी पर का जीवन, अनंत जीवन का ही व्यक्त रूप है। जीवन का अंतिम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण से अर्थ व्यक्तित्व के बंधनों से मन की मुक्ति है। राग, कारण-विधान, सीमित ज्ञान, सीमित स्थान, सीमित काल (समय) आदि व्यक्तित्व के बंधन हैं। दूसरे शब्दों में जीवन का लक्ष्य परमात्मा की पूर्णानुभूति है, विश्वात्मा से तादात्म्य है। विश्वात्मा अनुभूति गम्य है, बोध गम्य नहीं। उसे लखाया जा सकता है, लक्षित किया जा सकता है, व्यक्त नहीं किया जा सकता। उस के

लिए सत्, चित्, आनंद, अथवा अस्ति, भाति, प्रिय आदि शब्द काम में लाये जाते हैं। पाश्चात्यों में कुछ ने दि ट्रू, दि गुड, ब्यूटिफुल शब्दावली अपनाई है। जीवन का आदर्शात्मक दृष्टिकोण, भारतीय साहित्य की प्रायः सभी धाराओं में विद्यमान रहा है। कला, विज्ञान, दर्शन, यहाँ तक कि व्याकरण, वैद्यक, कामशास्त्र आदि भी उस लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं, अस्तु यह स्वाभाविक है कि भारतीय साहित्य और कलाओं में रसानुभूति को अंतिम लक्ष्य माना गया है।

कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म सिद्धान्त की जड़ें भारत में बहुत गहरी रही हैं। इन्हों ने यहाँ के सौन्दर्य शास्त्र को प्रभावित किया है। कालिदास में 'भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि' में इस प्रभाव की ध्वनि है। इसी कारण भारतीयों को उच्च वंशों के सद् पात्रों में विश्वास रहा है और पात्रों के गुणों का निर्देश तदनुसार किया गया है। महाकाव्यों के और रूपकों (नाटकों) के पात्र धीरोदात्त, धीर ललित धीर शान्त और उच्च वंश के विशुद्ध चरित्रवाले प्रभावशाली व्यक्ति बनाये गये हैं। उन के चरित्र व्यक्तिगत चरित्र नहीं राष्ट्रीय जीवन के उच्च आदर्शों के प्रतीक चरित्र हैं, सांस्कृतिक महानता के प्रतीक चरित्र हैं। रचनाओं में कथावस्तु का नेतृत्व वे करते हैं। उन्हीं का प्रभुत्व है। फलत. प्रतिनायक, छद्म, कथोपकथन आदि सभी तत्व उद्देश्य के अधीन गौण रूप में रहते हैं। उन में जीवनोत्कर्ष के कुछ लक्ष्य निहित रहते हैं जिन का नाटकीकरण व्यापार, कथोपकथन के द्वारा किया जाता है और जिन की सिद्धि उस स्थिति में होती है जब कि नेता तथा सहृदय दर्शक में स्थाई भाव जग कर इस सीमा तक तीव्र हो जाता है कि दोनों (नेता और दर्शक) के स्थाई भाव का अविलम्ब साधारणीकरण और तादात्म्य हो

जाता है। सिनिमा द्वारा यह रसानुभूति नहीं हो पाती, क्यों कि उस में यह लक्ष्य, यह विधान अभिप्रेत ही नहीं।

रस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य आनंद भाव (स्थाई भाव) प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के मन में होता है जिसमें उस के आस्वाद की समर्थता है। वह सदैव विद्यमान रहता है किन्तु कभी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही आस्वाद योग्य हो पाता है। आनंद भाव स्वतः सिद्ध है किन्तु उस के जागरण के लिए कुछ कलामय व्यंजनात्मक उपकरण अपेक्षित होते हैं। ये उपकरण साहित्य-शास्त्र की भाषा में विभाव, अनुभाव तथा संचारी कहलाते हैं। वाह्य स्थिति, प्राकृतिक दृश्य, मानसिक दशा, तथा क्रियाव्यापार आदि से निर्मित ये उपकरण पृष्ठ भूमि का काम करते हैं। कवि अथवा नाटककार भावों के इन सहयोगियों का अपने काव्यों तथा नाटकों में चित्रण करते हैं, जिस से पाठक तथा दर्शक के मन की कल्पना में एक सजीव चित्रविम्ब प्रस्तुत हो जाता है। और आत्मिक सहृदयत्व के कारण पाठक श्रोता तथा दर्शक इस सजीव मानसिक कल्पना मूर्ति से अपना तादात्म्य कर लेते हैं। भाव का साधारणीकरण हो जाता है। वैयक्तिक बंधनों से मुक्ति मिल जाती है। इसीलिए कहा गया है 'मनुष्य जिस समय कविता की एक भी सुन्दर पंक्ति लिख पढ़ लेता है उस समय वह, जीवन मुक्त हो जाता है।' इस प्रकार नाटक तथा काव्य, रसानुभूति के माध्यम बन जाते हैं। काव्यानंद को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया गया है और ब्रह्म के लिए 'रस सदृश वह' उक्ति का प्रयोग हुआ है। योगियों को समाधि की अवस्था में जो आनंद प्राप्त होता है वह, ब्रह्मानंद कहलाता है। ब्रह्मानन्द में आत्मा, स्थाई भाव की तीव्रतम दशा के प्रभाव से भी मुक्त रहती है, किन्तु काव्यानन्द में उस

प्रभाव का विद्यामान रहना अनिवार्य है। इस भेद के कारण ही काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द न कह कर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है और ब्रह्म को 'रस के समान वह' कहा गया है।

भारतीय शास्त्रीय कवि अथवा नाटककार ऐसी मानसिक दशा को चुनता है जिस में सार्वभौम आकर्षण हो। उस को इस प्रकार से प्रस्तुत करता है कि उस में कलात्व आ जाय। छंद-शास्त्र, नाट्य शास्त्र, साहित्य शास्त्र की ये शाखाएँ जो कि नौसिखिए साहित्यिक मनोवृत्ति के व्यक्ति को काव्य शिक्षा लेने में सहायता करती हैं। लेकिन इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर लेने भर से काम नहीं बन जाता। कलाकार में सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति, विवेक सम्पन्न वस्तु पहिचान शक्ति, आवश्यक चयन शक्ति तथा निर्माण कल्पना शक्ति का होना भी अनिवार्य है। उस की शैली प्रवाहयुक्त और क्रान्तदर्शी, प्रेषणीय और ध्वन्यात्मक होनी चाहिए। सिद्ध कलाकार इस बात को भली भाँति जानता है कि सर्व साधारण वस्तु ही सब से अधिक व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने की सहूलियत देती है और आधार भूत अनुभव ही सार्वभौम हो सकता है यदि इन्हें ठीक ढंग से प्रस्तुत किया जाय। प्रस्तुतीकरण के लिए नाटककार अपनी आविष्कारक प्रतिभा को काम में लाता है। आवश्यकता होने पर नाट्य शास्त्र से सहायता लेता है। इतिहास, पुराण, कथा, उपन्यास, काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, स्थापत्य कला आदि जिस से भी उस के प्रयोजन में सहायता मिलती है उस से सहायता लेता है। इस प्रकार नाटक में इन्द्रियों के लिए विशेष कर चक्षु और कानों के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान रहती है।

जीवन तत्व सब से अधिक आधारभूत और सार्वभौम

आकर्षण की वस्तु है। जो कुछ भी जीवन के प्रसार-विकास-स्थिति में सहायक होता है वह सुन्दर प्रसन्न भव्य और मंगलकारी माना जाता है। और जो जीवन विकास में बाधक होता है वह दुःखदायी समझा जाता है। इस प्रकार जीवन दो प्रकार के भावों को जन्म दे देता है जो कि शाश्वत और सार्वभौम हैं। और क्यों कि वास्तविकता परिवर्तन में स्थायित्व का ही दूसरा नाम है इसलिए दोनों प्रकार के भाव एक दूसरे के आश्रित हैं, सापेक्ष हैं। और इस तरह संघर्ष का जन्म हो जाता है जिस में भावनाओं को नया नया रूप रंग प्राप्त होता है। हमारे मार्ग में बाधा आती है तो हम उसे दूर करने की युक्तियाँ सोचते हैं। ऐसी स्थिति में मुख्य भाव वीर होता है किन्तु साथ साथ क्रोध, भय, आश्चर्य के भाव भी आ जाते हैं। बाधाएँ यदि अजेय हैं तो विषादान्तता आती है और शोक तथा जुगुप्सा के भाव वहाँ होते हैं। किन्तु शान्त भाव भी मन में उत्पन्न हो सकता है, जिस में विरोधी भाव समतुलन में होते हैं। इस प्रकार के देर तक रहने वाले शाश्वत सार्वभौम भावों का ही नाम स्थाई भाव है। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने अधिकतर नौ स्थाई भाव माने हैं-१ हास २ शोक ३ क्रोध, ४ उत्साह ५ भय ६ जुगुप्सा ७ विस्मय ८ शांत ६ रति। ये ही क्रमशः १ हास्य २ करुण ३ रौद्र ४ वीर ५ भयानक ६ वीभत्स ७ अद्भुत ८ शान्त और ६ श्रृंगार रसों में अपनी तीव्रतम दशा में परिणत हो जाते हैं। वे भाव जो मन में थोड़ी देर के लिये उदय हो अपना कार्य कर मूल स्थाई भाव में लीन हो जाते हैं संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इन की संख्या नहीं हो सकती, किन्तु भारतीय साहित्य शास्त्रियों के अनुसार ये तेंतीस होते हैं।

निर्वेद, ग्लानि मद, मोह, विषाद शंका,
आलस्य, धैर्य, मति, उत्सुक्ता, असूया,
उन्माद, स्वप्न, श्रम, त्रास, विबोध निद्रा,
आवेग, दैन्य अवहित्थ, वितर्क व्रीडा,
चापल्य, गर्व, जड़ता, स्मृति, व्याधि हर्ष,
चिन्ता तथा स्मृति, अपस्मृति औ अमर्ष,
तेतीस है सब मिला कर उग्रता ये
सचारि भाव कहते इन को प्रवीन।

विभाव वह सामग्री है जो कि स्थाई भाव को जाग्रत और तीव्र करती है। इस के तीन पहलू हैं (१) आश्रय अथवा विषयी, जिस के हृदय में स्थाई भाव जगता है (२) आलम्बन अथवा विषय, जिस के प्रति स्थाई भाव जगता है (३) उद्दीपन या वातावरण।

अनुभाव वे कायिक परिवर्तन हैं जो कि हृदय में स्थाई भाव के उदित हो जाने पर किसी व्यक्ति में होते हैं और जिन से दूसरों को उस भाव जागरण का पता चलता है। इन में कुछ तो ऐसे होते हैं जिन में प्रयत्न अपेक्षित होता है हाव (नाज) कहलाते हैं, क्षण क्षण आँखों की कोरों से देखना, क्षण क्षण वस्त्र का धूल में गिराना, क्षण क्षण दाँतों से हँसी की फुल झड़ी छोड़ना आदि आदि, हाव के उदाहरण हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी कायिक परिवर्तन होते हैं जो कि भाव की उमग में स्वत हो जाते हैं, स्वेच्छा से रोके नहीं जा सकते। ये सात्विक (अदा) कहलाते हैं। रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य, कप, अश्रु प्रलय, स्वर भग और स्तभ ये सात्विक हैं।

अनुभव सब से समर्थ साधन हैं जिन से किसी के हृदय के भाव का पता चलता है इसलिए कुशल कलाकार और

कवि, अनुभाव चित्रण का सहारा सब से पहिले लेते हैं। नायिका के अनुभाव नायक के लिये समर्थतम विभाव का काम करेंगे। इसलिये कलाकार कवि, अनुभाव को विभाव की पृष्ठ भूमि में चित्रित कर संचारियों की ओर बढ़ता है, और इन सब के सहयोग से स्थाई भाव को जाग्रत, उद्दीप्त और तीव्र कर रस दशा को पहुँचा देता है। इस प्रकार स्थाई भाव ही अपने तीव्रतम रूप में रस है।

विभाव, अनुभाव की सुविधा तो सभी रसों में रहती है, किन्तु संचारियों का सहयोग हास्य को सब से कम प्राप्त है इसी से हास्य का साहित्य कम मिलता है। क्रमिक रूप से अद्भुत, बीभत्स, वीर, रौद्र, भयानक, करुण में यह सहयोग बढ़ते बढ़ते शृंगार में चरम सीमा को पहुँच जाता है। उग्रता, मरण और अलसता को छोड़ कर शेष सब संचारी भाव शृंगार रस में आ सकते हैं। हास्य में केवल तीन, अद्भुत में चार, बीभत्स में पाँच, वीर में छ, रौद्र में आठ, भयानक में दस और करुण में ग्यारह संचारियों का उपयोग हो सकता है। इसी बढ़ते क्रम से इन रसों का साहित्य भी उपलब्ध होता है। फलतः शृंगार की सर्वश्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है। शृंगार में आश्रय और आलम्बन में सम भाव भी जाग्रत हो सकता है अन्य रसों में यह कम संभव है। यदि किसी का हमारे प्रति करुणा का भाव है तो हम में उस के प्रति करुणा का ही भाव नहीं जागरित होगा। किन्तु यह संभव है कि किसी में हमारे प्रति प्रेम भाव है तो हम में भी उस के प्रति प्रेम भाव हो। फिर हमारा जन्म ही रति भाव पर निर्भर है। मनुष्य को सब से अधिक तृप्ति इसी भाव से मिलती है। इन सब कारणों से ही शृंगार रस राज कहलाता है। वैसे रसानुभूति, रसानुभूति है उस की दो तीन चार

आदि संख्या नहीं हो सकती किन्तु स्थाई भावों की भिन्नता को ध्यान में रखते हुए और समाधि अवस्था की अनुभूति से उस की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए रसों के भी नामकरण कर दिये जाते हैं। भवभूति ने अपने उत्तर राम चरित के तीसरे अंक के सैंतालीसवें श्लोक में करुण के बहाने इसी दिशा की बात कही है।

एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद—
भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुदबुद तरंग मयान् विकारान्—
अंभो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्।

और किन्नर कवि चन्द्रकुँवर ने भी

१ 'मैं मर जाऊँगा पर मेरे जीवन का आनंद नहीं!
झर जावेंगे पत्र कुसुम तरु पर मधु प्राण वसन्त नहीं!
सच है घन तम में खो जाते स्रोत सुनहले दिन के,
पर प्राची से झरने वाली आशा का तो अंत नहीं!

२ जगती में आतीं रितु कितनीं पर मधु रितु-सी और नहीं!
गातीं निशि-दिन विहगीं कितनीं पर परभृत-सी और नहीं।
उसी ज्योति की कला चाँदनी, तारे जिस के मुकुल हुए,
हुई मोहिनी वह क्यों इतनी ? इस रहस्य को कौन कहे ?

इत्यादि में रस राज शृंगार के शाश्वत आनंद की एक रसता की ओर ही संकेत किया है।

१५—किन्नर कवि चन्द्रकुँवर

चन्द्र कुँवर मंदाकिनी, हिम ज्योत्स्ना की धार,
विकल वेदना बाँसुरी, बहती शान्ति अपार।

"श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल कब हिन्दी-संसार में आए और

कब चले गये इस का किसी को पता न लगा। पर उन के रूप में हिन्दी संसार ने अपना सब से बड़ा गीति काव्य रचयिता पाया और खो दिया। इस प्रकार की धारणा उन की कविताओं को देखने से मन में बनती है। हिमालय में निश्चित समय पर गाने वाले काफल पाक्कू पक्षी के गान की तरह चन्द्रकुँवर के सुरीले मुक्तक मन और आत्मा को काव्य-सौन्दर्य के एक नये लोक में उठा देते हैं और वह आनंद अंत में इस करुणा और कसक के साथ समाप्त हो जाता है कि इस प्रकार के सौन्दर्य का गान करने वाला कवि इतनी जल्दी हम से विलग हो गया। उस की वाणी के परिपाक से हमारी भाषा और भी धन्य होती पर ऐसा न हो सका। जो कुछ भी अपनी अल्प आयु में उन से हमें मिला वह ही अद्भुत है। उन की लिखी हुई कविताओं की संख्या लगभग एक हजार तक है और शुद्ध मुक्तक के आनंद की दृष्टि से कितनी ही इतनी सुन्दर हैं कि वे निखिल हिन्दी-संसार की सम्पत्ति कही जा सकती हैं।

कलात्मक सौन्दर्य और आनंद की कसौटी पर पूरा उतरने वाले मुक्तक की रचना बहुत ही कठिन है। प्रबन्ध काव्य, पृथ्वी पर पैर रख कर चलता है, किन्तु मुक्तक, पृथ्वी और आकाश दोनों में एक साथ अपने पंख फैलाता है। पृथ्वी का साथ न छोड़ते हुए भी वह आकाश में ऊँची उड़ान भरने का अभ्यासी है। आकाश की निर्मल धूप में अपने आप को विलीन करने की अभिलाषा से ऊपर उठ कर भी वह पृथ्वी के साथ सम्बन्ध बनाए रखता है। शुद्ध मुक्तक की यही सब से बड़ी परख है कि न तो उस में पार्थिव अंश की अधिक गंध हो और न आकाश की अस्तित्वहीन तरलता। इस प्रकार की सफल कविता अत्यन्त कठिन और विरल होती है।

श्री चन्द्रकुँवर का मुक्तक इस प्रकार की विलक्षण रस प्रतीति तक हमें ले जाता है। वह ऊपर से वेदनामय जान पड़ता है, पर उस की यह करुणा कहीं भी जीवन के आनन्दी निर्झर का निराकरण करती हुई नहीं जान पड़ती। करुण काव्य के इस गुण की भरपूर प्रतीत हमें कालिदास के मेघदूत में प्राप्त होती है। चन्द्रकुँवर की मुक्तक कविता आनंद की झड़ी है, इसी में उस की सफलता की इति श्री जाननी चाहिए।

हिमवन्त की फूटती हुई जलधाराओं और ऊँची उठती हुई चोटियों के बीच चन्द्रकुँवर कहीं उत्पन्न हुए। केदारनाथ के पास पँवालिया, उन का ग्राम था जिसे[१] दो मुक्तकों में उन्होंने अमर किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास में एम. ए. की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे लखनऊ विश्व-विद्यालय में रहे पर विपरीत स्वास्थ्य ने उन्हें फिर हिमालय के कोटर में ले जा कर बन्द कर दिया। सात वर्षों तक रोगों से युद्ध करते करते उन्नीस सौ सैंतालीस में गाते हुए उन का अंत हो गया। हिमालय के उत्संग में भरा हुआ जो असाधारण कल्लोल और कलरव है, साथ ही उस का जो धीर मौन है, उन दोनों से चन्द्रकुँवर का हृदय पूर्ण था। हिन्दी जगत में बाहर आ कर वे विज्ञापन यश की खोज में न निकल सके, यह उन की कविता के लिए हित कर ही हुआ। उन के मनोभावों के रुके हुए सेतु इधर उधर न बह कर कविता ही में फूट निकले जिस से उन की भाषा में और उन के भावों में एक अपूर्व वेगवती शक्ति आ गई। ज्ञात होता है कि अंतरिक्ष में रुके हुए बाँध टूट कर पृथ्वी की ओर वेग से बह रहे हैं।

१—देखिए-श्र० प्र० बहुगुणा आई० टी० कालेज, लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'पयस्विनी' पृ० १४३-१४४

अर्थ और छन्दों पर उन का असामान्य अधिकार था जैसा कि प्रतिभा संपन्न कवि में होना ही चाहिए। अपनी कविताओं को अपने जीवन काल में प्रकाशित रूप में देखने की या तो उन में उत्सुकता नहीं हुई या गिरते हुए स्वास्थ्य ने उन का साथ नहीं दिया। अगस्त्य मुनि की रेती के एक छोटे से स्कूल में अध्यापक के पद पर विजड़ित हो जाने के कारण उन्हों ने हिन्दी-संसार को अपने लिए अगम्य समझ लिया था और समस्त प्रवृत्तियों को अपने आप में समेट कर काव्य देवी के चरणों में अर्पण करते हुए उन का जीवन शेष हो गया।

श्री चन्द्रकुँवर की कविताओं को पढ़ने से ऐसी प्रतीति होता होती है कि वे दुःखवादी कवि नहीं थे, जीवन की दुर्द्धर्ष शक्तिमत्ता के संबंध में 'यशस्वियों की पृथ्वी'[1] शीर्षक कविता के गूँजते हुए ओजस्वी शब्द इस का प्रमाण देते हैं। उन की 'मानव'[2] शीर्षक कविता पढ़ कर टेनिसन (१८०६ ई०-१८६२ ई०) की 'लोटस ईटर्स' नाम की उस कविता का स्मरण आता है जिस में एक ओर जीवन में अकर्मण्यता का आश्रय ले कर पड़े-पड़े मधु चखने वाले व्यक्तियों और दूसरी ओर संघर्षमय जीवन के लिए व्याकुल कर्मण्य वीरों की विरोधी मनोवृत्तियों की तुलना की गई है। मानव होने के नाते ही संघर्ष और उद्यम हम में से प्रत्येक की बाँट में आ गया है। एक छोटी-सी कविता में इस उदात्त भाव को सुन्दर काव्यमय ढंग से व्यक्त किया गया है। विगत महायुद्ध के समय मचे हुए भीषण संहार से व्यथित कवि ने अन्तरलीन हो कर प्रश्न

१—'पयस्विनी' आरंभ

२—'विराट ज्योति' पृ० १०

पूछा था [1] कि हे रुद्र तुम यह प्रलय साज किस अनाचार को दूर करने के लिए सज रहे हो, उन का वह टीसता हुआ प्रश्न हमारे अपने ही देश की परिस्थिति में और भी सार्थक हो उठा है।

श्री चन्द्रकुँवर की कविताओं में मृत्यु के विषाद और जीवन के उल्लास का एक विलक्षण संयोग हुआ है। सन् १६४० ई० में भीषण रोगों से पीड़ित होने के बाद मृत्यु तक पहुँचने में उन के अपने शब्दों में "प्राणों को सुख न मिला, जीवन को चैन नहीं।" अपनी इस स्थिति में वे नित्य प्रति सायं प्रातः मृत्यु के द्वार पर पहुँचते और वापस आते रहे। मृत्यु के द्वारों पर [2] बैठ कर उन्हों ने यम को अपना मित्र बनाना चाहा जिस से उसी बहाने जीवन को कुछ शान्ति मिले। मृत्यु की इस साक्षात तीव्र अनुभूति के मध्य में कवि ने अपनी 'यम' [3] शीर्षक कविता लिखी जो कि शब्दों की प्रचंड शक्ति एवं उत्तरहीन उपालंभ के गुणों से संसार की यम विषयक कविताओं में श्रेष्ठतम स्थान पाने योग्य है। यमराज के साथ हमारे देश का परिचय कई सहस्राब्दियों से है, किन्तु कठोपनिषद की एक झाँकी के अतिरिक्त यम का मानव के सामने इस प्रकार का साहित्यिक अस्तित्व अन्यत्र दुर्लभ है। यह कविता अकेली ही कवि को साहित्य में अमर स्थान देने योग्य बनाती है।

१—देखिए डॉ० प्र० बहुगुणा आइ० टी० कॉलेज, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, 'विराट ज्योति' पृ० १४-१५,

२—'पयस्विनी' पृ० १६२

३—'पयस्विनी' पृ० १६२-६३ तथा 'विराट ज्योति' पृ०२५-२८

श्री चन्द्र कुँवर जी हिमालय के पृथ्वी पुत्र थे। वे हिमवन्त के सच्चे कवि हैं। उन की मुक्तक कविताओं में पर्याप्त संख्या उन कविताओं की है जिन में हिमालय पर्वत और उस के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। रैमासी हिमालय का फूल है और काफलपाक्कू वहाँ का एक पक्षी। रैमासी[1] और 'काफलपाक्कू'[2] शीर्षक कविताओं में मानों कवि ने हिमालय के ही दो ठेठ फूल चुन कर अपने इष्ट देव के चरणों में चढ़ा दिए हैं। कैलाशों पर उगने वाले रैमासी के इन सुन्दर पुष्पों का जन्म हिमालय पर बहने वाले अमृत के सोतों से हुआ है। उन के सौन्दर्य की यही सीमा है कि हिमालय में घूम कर जो सब से दिव्य भेंट पार्वती शिव के लिए चुन कर लाईं वे यही रैमासी के फूल थे। इन दिव्य फूलों की सुन्दरता देखकर कवि इस पृथ्वी को और अपने आप को भी भूल जाता है।—

'माँ गिरिजा दिन भर चुन जिन से भरतीं अपना पावन दुकूल,
पावनी सुधा के स्रोतों से उठते हैं जिन के अरुण मूल,
मेरी आँखों में आये वे राई-मासी के दिव्य फूल!
मैं भूल गया इस पृथ्वी को, मैं अपने को भी गया भूल!'

हिमालय के काफलपाक्कू पक्षी के साथ अपनी भावनाओं को ओत-प्रोत कर के कवि ने 'काफलपाक्कू' नामक एक अमर कविता[3] की रचना की है। कहा जा सकता है कि चन्द्रकुँवर के रूप में हिमालय ने अपना मानवी काफलपाक्कू पा लिया था। ग्रीष्म की प्रचंड तपन के बाद जब यह नंदन-वन-वासी पक्षी आता है तब दोनों तट प्लावित हो जाते हैं, धरती सुख से फूल उठती है, और उस के मधुर कंठ का

१—'पयस्विनी' पृ० ८६ २—'पयस्विनी पृ० १६१-१६७,१६१
३—देखिये "पयस्विनी' पृष्ट १६१-१६७

अमृत पी कर वन देवी खिल उठती है—'क्षण भर में कर देते खग तुम इस पृथ्वी को नंदन'। बचपन में कवि का इस पक्षी के साथ जो परिचय हुआ था उस की वह सरसता और व्यंजना बदले हुए जीवन के साथ टिकाऊ न रह सकी। विषाद के साथ उसे कहना पड़ा—

> "पहले तुम को देख चरण चंचल होते थे,
> आज उमड़ता मेरी आँखों में कटु रोदन!
> गाओ बंधु तुम्हीं उड़ उड़ कर काफल खाओ,
> बदल गया पहिले से बुरी तरह यह जीवन।[1]

जीतू[2] शीर्षक बड़ी कविता के आरम्भ में हिमालय का अत्यन्त उदात्त जैसा वर्णन है वैसा कालिदास के हिमालय वर्णन को छोड़ कर अन्यत्र कम मिलेगा।

चन्द्र कुँवर जी के काव्य का एक और उज्ज्वल पक्ष उन की प्रकृति और वृष्टि सम्बन्धी कविताएँ हैं। हिमालय, सैकड़ों प्रकार के उछलते हुए जल-प्रवाहों का प्रदेश है। मेघ वहाँ खुल कर बरसते हैं और नदी-झरनों को अपना वरदान बाँटते हैं। आकाश में स्थित गरजता और बरसता हुआ मेघ मानों नदी से कहता है कि आज मेरे दान की सीमा नहीं है, उठो, एक जन्म क्या कई जन्मों के लिए तुम आज अपने आप को उस उन्मुक्त वर्षण से भर लो।" हिमालय के चंचल जल प्रवाह के साथ क्रीड़ा करने वाली कवि की तरुण वाणी, वृष्टि से उमड़ती वरुण की उन्माद भरी प्रणयिनी मंदाकिनी (पयस्विनी पृष्ठ ४२) के चित्रण में अत्यंत सजीव

१— ,, ,, पृष्ठ १६१

२—शं० प्र० बहुगुणा आइ० टी० कौलेज लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'जीतू' पृष्ठ ६४-७७

हो उठी है। निराली शब्द योजना और कल्पना की विचित्रता चन्द्रकुँवर जी के काव्य की विशेषताएँ हैं। शुद्ध आनंद प्रदान करने वाले इस महानुभाव कवि के काव्य को अवश्य एक दिन गहरा स्वागत प्राप्त होगा। उस के गूँजते हुए स्वर, साहित्य में चिरजीवी होंगे। यह भी विचित्र है कि जिस कवि ने जीवन में आत्म प्रसिद्धि का एक मार्ग भी प्राप्त न कर पाया उस का काव्य उस की निजी जीवन की घटनाओं के साथ इतना घनिष्ट संबंध रखता है, चन्द्रकुँवर जी की अनेक कविताएँ उन के जीवन की आत्म कथाएँ ही हैं। यद्यपि अपने शरीर की विशेष अवस्था के कारण कवि विवाह-बंधन में न बँध सका, फिर भी कविताओं से ज्ञात होता है कि विकसित होते हुए यौवन के किसी ललाम मुहूर्त में एक रूप माधुरी ने उस की आँखों में प्रेम का उज्ज्वल प्रकाश भर दिया था। किसी दूसरे के साथ विवाहिता बन कर, संसार के विशाल जन समूह में वह सुन्दरता कहीं लीन हो गई। परन्तु उस की अकलमष रूप माधुरी कवि की चाह बन कर कविता में समा गई। प्रेम का यह रस स्रोत कवि के मुक्तकों को विलक्षण सरसता प्रदान कर गया है।"

चन्द्रकुँवर की कविताओं को पढ़ने के बाद इस प्रकार की धारणा डाक्टर वासुदेव जी शरण अग्रवाल की हुई। उन्हों ने चन्द्रकुँवर की 'पयस्विनी' और 'जीतू' रचनाओं के विषय में लिखा—

"आज कितने मास बाद अपने अतिशय प्रिय कवि चन्द्रकुँवर जी की कविताओं को फिर से देख कर मेरा हृदय आनंद के गदगद भावों से भर गया। कितनी ही स्मृतियाँ हरी हो गईं।""चन्द्रकुँवर जी मेरे हृदय में नित्य बसने वाली मातृभाषा की वीणा को मधुरतम झंकार उत्पन्न करने वाले

कवि थे। उन के प्रति हमारा जो कर्तव्य है उस के प्रति हम सब ही उदासीन रहे और आज भी रह गये हैं। चन्द्रकुँवर जी की अनेक कविताओं को इस रूप में सुलभ देख कर सच-मुच मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। आज पुन: चिर परि-चित पंक्तियों को पढ़ कर मुझे हृदय का सच्चा सुख मिला। क्या भाषा और क्या भाव इस कवि को मिले थे!

"कौन है वह, कभी जिस के दृग नहीं सुख से भरे!
कभी जिस के वृन्त छोड़ कर न कुसुम झरे?"

कितने कितने रत्न हैं! कहाँ तक बताऊँ! चन्द्रकुँवर की लेखनी से कविता की जो पंक्तियाँ लिख गई हैं वे सौदामिनी की रेखाओं की तरह उजला प्रकाश, लोक में भरती रहेंगी। कविता की भाषा यदि अमर है, उस का तेज काल विस्तार पा कर यदि सदा बढ़ता ही है, मानव के हृदय की भूमि भावों के अंकुरों के लिए कभी अपनी सजलता यदि नहीं खोती तो आज न सही पचास वर्ष बाद जब इस पृथ्वी पर नये हृदय जन्म लेंगे तब वे चन्द्रकुँवर की वीणा का गान सुन कर अवश्य खिलेंगे, उस समय इस कवि की संवर्द्धना को देखने के लिए हम न रहें पर मेरे जैसे इक्के दुक्के व्यक्तियों के लिए तो चन्द्रकुँवर की कविता का आनंद 'पयस्विनी' द्वारा अवश्य सुलभ है।

"बहुत समय बाद 'जातू' फिर पढ़ी और ऐसे लगा जैसे किसी प्राचीन छवि के स्पर्श से प्राण नये हो गये हैं—

"उस अदृश्य छाया को लक्षित करता फिर वह
बोला—तुम से कब की थी पहिचान प्राण की!
किस सोन के युग में जब ये प्राण नये थे,
नई सृष्टि में जब ये चचल विचर रहे थे
तुम्हें रूप से घिरी इन्होंने प्रिय देखा था!"

'जीतू' मानवमात्र के लिए प्राणों का स्वर है जो कि समय पा कर अज्ञात छाया के लिए व्याकुल हो उठता है। यह व्याकुलता प्रेम है।

प्रोफेसर हरिलाल मूल शंकर मूलानी चन्द्रकुँवर की नंदिनी के विषय में कहते हैं—

"नंदिनी पढ़ने से न जाने कैसा एक निश्वास निकलता है। मन पूछता है, क्या यही कवि जीवन है? प्रेम की चोट खा-खाकर मुरझा जाना! क्या यही है कोमल हृदय का पुरस्कार! या किसी मृदु हृदय की भस्म से ही माई शारदा ऐसा सुन्दर काव्य पुष्प विकसा सकती है? कवि के प्रेमाश्रु इस काव्य गंगा के स्रोत से मानव-जीवन को, मनुष्य हृदय को एक सुन्दर सरल मृदु स्पर्श से पुलकित कर बह रहे हैं। नंदिनी का हर एक चरण सुन्दर, शीयल, सरल, शान्त, दर्द से भरा हुआ है। इस कविता के भावों और कल्पनाओं से इंगलिश कवि श्यैले (१७९२—१८२२ ई) और गुजराती के राज कवि गोहेल सुरसिंह जी जगतसिंह जी 'कलापी' (१८७४ ई – १९०० ई) की याद आती है। हिन्दी साहित्य के ऐसे आशा दीप को परमात्मा ने इतना अल्पायु क्यों किया होगा?"

सन् १९५१ अप्रैल में डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने चन्द्र कुँवर की कृतियों के बारे में लिखा—

"चन्द्र कुँवर बर्त्वाल जीवित यदि रहते तो वे हिन्दी-साहित्य की आधुनिक प्रगति में विशेष योग देते। वैसे उन्होंने जो कुछ लिखा वही उन्हें आधुनिक कवियों में श्रेष्ठ स्थान दिलाने के लिए यथेष्ट है। खेद है ऐसा प्रतिभाशाली कवि इतनी शीघ्र ही हम लोगों के बीच से उठ गया। उन की

मेघनंदिनी शीर्षक रचना वास्तव में एक अमर संदेश ले कर हिन्दी पाठकों के सामने आई है। साहित्यिक तथा दार्शनिक दोनों ही दृष्टियों से उस की गणना कुछ अन्तर रहते हुए भी, स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद कृत 'प्रेम पथिक' की परंपरा में की जा सकती है। कवि के जीवन प्रभात का यौवनोचित प्रेम, प्रकृति प्रेम और अन्त में प्रेम की वासना में परिणति न हो कर अखिल विश्व की कल्याण भावना में परिणति होना, ये सब बातें मेघ नंदिनी को हिन्दी की एक निश्चित परंपरा में उच्च स्थान प्रदान करती हैं। कलात्मकता की दृष्टि से उस में मनोहरता एवं आकर्षण हैं और एक सजीव हृदय की गाथा होने के कारण वह एक श्रेष्ठ गीति रचना है। इस रचना की सब से बड़ी विशेषता यह है कि निविड़ अंधकार पूर्ण क्षणों में भी कवि ने जीवन के प्रति आस्था और आशा नहीं छोड़ी। आस्तिकता कवि का सब से बड़ा सम्बल है। उस के हृदय की ज्योति मंद दिखाई नहीं पड़ती। कवि के प्रेम में उच्छृंखलता के स्थान पर संयम और परिष्कार करने की शक्ति है। वह जीवन को विकृत बनाने के स्थान पर उस क विराट रूप को सामने रखने वाला है। वह "अहंभाव' के स्थान पर 'सब का हो कल्याण मुझे अब सब भाते हैं' का पाठ देता है। 'मेघनंदिनी' सुख-दुख में समता करना सिखाती है, केवल दुख दायक स्मृति के स्थान पर जीवन के कल्याण मार्ग के प्रति अग्रसर करती है, विश्वात्मा के प्रति आत्मसमर्पण की ओर संकेत करती है। वास्तव में मेघ नंदिनी पढ़ने के बाद पाठक का मन आनंद अंबुधि में अवगाहन करने लगता है।

"कंकड़-पत्थर' में बर्त्वाल 'चरैवेति चरैवैति' के कवि हैं। वास्तव में उन का यह रूप उनकी सभी रचनाओं में है। और 'कंकड़-पत्थर' का कवि मेघ नंदिनी के कवि से भिन्न नहीं है। दोनों में व्यापक और प्रगतिशील दृष्टिकोण है। कंकड़-पत्थर में

कवि ने जीवन के सामाजिक, धार्मिक, शिक्षा-संबंधी, राज-नीतिक, आर्थिक, वर्ग गत आदि क्षेत्रों के अभावों पर कहीं व्यंगपूर्ण दृष्टि से और कहीं व्यथित हृदय से दृष्टिपात किया है। और फिर, कवि की दृष्टि स्वदेश तक ही सीमित न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तृत है। कंकड़-पत्थर, बाँस का लट्ठ, काँटा, अल्लाह की जबान, गधे के प्रति, बृटेन के प्रति, विजया दशमी, राम नाम की गोलियाँ, कवि पशु, बंगाल का दुर्भिक्ष, मैकौले के खिलौने, भूखे किसान, ओ स्वदेश, मानव हूँ मैं, आदि रचनाएँ कवि की तीक्ष्ण दृष्टि का परिचय देती हैं। उसने जीवन का मर्म पहिचाना। 'आज अपनी देख सूरत' में वह, मानव के वर्तमान निन्दित जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है—"आज अपनी देख सूरत काँप मैं डर से उठा, आज अपनी प्रेत छाया देख कर मैं डर गया, आज से मुझ को न जीवन से प्रयोजन रह गया।"

इसलिए उसने 'चरैवैति, चरैवैति', 'लानी है कीर्ति नई, अब न और अधिक लुटो, का संदेश देते हुए, सदा धनिकों के हार गुँथने वाले कवि पशु की भर्त्सना की है। इस प्रकार की रचनाओं से सिद्ध हो जाता है कि कवि पर्त्वाल एक जागरूक कवि थे और छायावादी कवियों के करुण विलाप के स्थान पर उन में कर्मठता और सक्रियता थी। कवि, नवीन वैज्ञानिक युग और उस में निहित शक्तियों को पहिचानने और तद्-नुसार जीवन क्रम में परिवर्तित करने का पक्षपाती है।

'प्रणयिनी' के जीनू-नंदा, पुरुरवा-उर्वशी, और देवगुरु का अभिशाप नामक छोटे-छोटे एकांकियों में पर्त्वाल ने हृदय की विविध सूक्ष्म दशाएँ चित्रित की हैं। उनके प्रेम में व्यथा और मार्मिकता का समन्वय है और प्रणयिनी नाम सार्थक है। देवगुरु के अभिशाप में सोम को वरुण ने शाप दिया कि प्रति संध्या तुम्हारे जीवन पर मृत्यु की छाया पड़ती जायगी,

किन्तु देवगुरु ने 'वरदान' दिया कि तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। इस में कितनी गहरी व्यंजना है । यह वरदान है या अभिशाप, पाठक यह स्वयं सोच सकते हैं ।

'गीत माधवी' और 'हृदय गीत' में कवि का काव्यमय व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है । इन छोटे छोटे छंदों में कवि ने अपने हृदय की सूक्ष्मतम अंतरदशाएँ अभिव्यक्त की हैं। और यही कारण है कि उन में माधुर्य, आकर्षण शक्ति और सद्यापन सभी का समन्वय है। प्रेम के कारण उत्पन्न व्यथा को कवि ने प्रकृति के विराट सौन्दर्य की शीतलता में अवगाहन कराया है। इस सम्बन्ध में उन की कल्पनाएँ श्लाघनीय हैं। पार्वत्य प्रदेश में पालित पोषित होने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर उन्मुख होना कवि के लिए स्वाभाविक था। प्रकृति का सौन्दर्य उस के प्रणय को जब और भी तीव्र कर देता है तब वह कहता है—"मैं हँसते हँसते सहता हूँ इन के ये उत्पीड़न, इन्हें ज्ञात क्या, देख चुके हैं तुम को मेरे लोचन!" किन्तु, कवि ने अपनी भावनाओं को व्यापक रूप देते हुए कहा है—"तुम मेरी ही नहीं अकेली, तुम प्रिय हो स्वर-स्वर की, मेरी प्राची की सुकुमारी, तुम हो लहर लहर की।" वास्तव में 'गीत माधवी' में कवि की प्रकृति सौन्दर्यगत जो चेतना है वह विशाल और विराट है। सच तो यह है कि कवि चन्द्रकुँवर ने किसी सीमा की परिधि में बंधना तो सीखा ही नहीं।'

जनवरी १९४८ ई की 'सरस्वती' में स्वर्गीय श्री उमेशचन्द्र जी मिश्र ने लिखा—"चन्द्रकुँवर बर्त्वाल अब इस लोक में नहीं रहे। बर्त्वाल जी की प्रतिभा का ठीक ठीक अंकन तक अभी हिन्दी जगत नहीं कर पाया है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के सजीव प्रकृति वर्णन का जो रूप उन्हों ने अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है वह

अन्यत्र देखने को नहीं मिलता । इस विकासोन्मुख सच्चे कवि का हमारे बीच से उठ जाना सचमुच हमारे और हिन्दी के दुर्भाग्य का सूचक है।"

चन्द्रकुँवर के विषय में साहित्यिकों ने अपने अपने भाव विचार प्रकट किए हैं। किन्तु स्वयं चन्द्रकुँवर भी अपने बारे में कुछ कह गये हैं। अपने आठ सितम्बर १९४२ ई० के पत्र में उन्हों ने लिखा—"हो सकता है कि अकाल मृत्यु मेरी कामनाओं को कुचल दे। हो सकता है कि जब सिद्धि मुझे मिले उस समय उसे उपभोग करने की सामर्थ्य मेरे शरीर में न हो, फिर भी मुझे इस बात का संतोष रहेगा कि जीवन के प्रभात काल में जिस देवी के चरणों पर मैंने अपना सिर रक्खा था उस की मैंने सदा पूजा की, उस को मैंने सदा प्यार किया। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि उस के प्रसिद्ध उपासकों में मेरी गिनती नहीं हुई क्योंकि मुझे समय नहीं मिला और प्रेम तो उसी का नाम है जो असह्य कष्ट सहने पर भी अपने स्नेह पात्र को धन्यवाद ही दे। किशोरावस्था में तुमने मुझे उस मंदिर तक जाने में मदद दी, जहाँ आँखों में आँसू भर वह देव कन्या रहती थी। इस बात को न तो मैं भूला हूँ और न तो कभी भूल सकूंगा।"

"जीवन का है अन्त, प्रेम का अन्त नहीं है।
कल्प वृक्ष के लिए, शिशिर हेमन्त नहीं है।"

'यौवन के आँसू' के समर्पण में कवि ने लिखा है—

"दुःख के अकेले और अंधकार पूर्ण दिनों में जब कि सब मित्रों ने मुझे छोड़ दिया था उस समय भी जिस का अडिग प्रेम, आशा का दीप बन कर मेरे सिरहाने दिपता रहा, मुझे प्रकाश देता रहा, प्राणों से भी प्रिय उसी मित्र को 'गीत माधवी' 'हृदय गीत' और 'मेघ नंदिनी' के रूप में 'यौवन के आँसू' की यह तुच्छ भेंट सप्रेम अर्पित है।"

मेघ-नंदिनी

मेघ गरजा !
घोर नभ में मेघ गरजा !
गिरी बरसा,
प्रलय रव से गिरी बरसा !
तोड़ शैलों के शिखर,
बहा कर धारें प्रखर,
ले हजारों घने धुँधले निर्झरों को,
कह रही है वह नदी से
"उठ अरी उठ,
कई जन्मों के लिए तू आज भरजा,
मेघ गरजा"

[१]

मुझे प्रेम की अमर पुरी में अब रहने दो !
अपना सब कुछ दे कर कुछ आँसू लेने दो,
प्रेम की पुरी जहाँ रुदन में अमृत झरता,
जहाँ सुधा का स्रोत उपेक्षित सिसकी भरता,
जहाँ देवता रहते लालायित मरने को,
मुझे प्रेम की अमर पुरी में अब रहने दो !

[२]

मधुर स्वरों में मुझे नाम प्रिय का जपने दो !
मधु रितु की ज्वाला में जी भर कर तपने दो,
मुझे डूबने दो यमुना में प्रिय नयनों की,
मुझ को बहने दो गंगा में प्रिय वचनों की,
मुझे रूप की कुंजों में जी भर फिरने दो,
मधुर स्वरों में मुझे नाम प्रिय का जपने दो !

[३]

अलकें बिखराए आँसू में नयन डुबाए,
पृथ्वी की अपने तन मन की याद भुलाए,
मैं गाऊँगा विपुल पथों पर शून्य वनों में,
नदियों की लहरों में कुँजों की पवनों में,
दुःखी देवता-सा ऊपर को दृष्टि उठाए,
अलकें बिखराए आँसू में नयन डुबाए!

[४]

जन्म-जन्म से खोज रहा है उस को जीवन,
जिसे देख कर काँप उठे नयनों में रोदन,
जिसे देख कर खिले वसन्त हृदय में मेरे,
जिस के दीप रहें जीवन के पथ को घेरे,
जिसे लुभाने को आया है मुझे में यौवन,
जन्म-जन्म से खोज रहा है उस को जीवन!

[५]

मेरी बाँहें सरिताओं-सी आकुल हो कर,
दिशा-दिशा में खोज रही हैं वह प्रिय सागर,
जिसे हृदय पर धर कर मिलती शान्ति चिरन्तन,
जिस की छवि में खो जाता युग-युग का जीवन,
जिसे देख कर कुछ न दीखता फिर पृथ्वी पर
मेरी बाँहें खोज रही हैं वह प्रिय सागर!

[६]

मेरा उर सौरभ को बिखरा कर रो-रो कर,
कहता मुझ को डाली से तोड़ो हँस-हँस कर,
मुझ को चूमो, मुझे हृदय के बीच छिपाओ,
मुझ को अपने यौवन का शृंगार बनाओ,
मरने पर मुझे गिरा दो धीरे से भू पर,
मेरा उर कहता सदा यही रो-रो कर!

[७]

मेरे उर से उमड़ रही गीतों की धारा,
बन कर गान बिखरता है यह जीवन सारा,
किन्तु कहाँ वह प्रिय मुख जिसके आगे जाकर,
मैं रोऊँ अपना दुःख चातक-सा मँडरा कर,
किस के प्राण भरूँ मैं इन गीतों के द्वारा,
मेरे उर से उमड़ रही गीतों की धारा?

[८]

मेरे पास आज इतना धन है देने को,
नये फूल हैं पाँवों के नीचे बिछने को,
नये मेघ हैं नई चाँदनी है नव यौवन,
निर्मल मन है और स्नेह से छलछल लोचन,
कौन जानता है कल ही क्या है होने का!
मेरे पास आज इतना धन है देने को!

[६]

कहाँ मिलेगी मर कर इतनी सुन्दर काया,
जिस पर विधि ने है जग का सौन्दर्य लुटाया,
हरे खेत ये विजन वनों की बहती नदियाँ,
पुष्पों में फिरती भिखारिणी ये मधुकरियाँ
कहाँ मिलेगी मर कर इतनी शीतल छाया,
कहाँ मिलेगी मर कर इतनी सुन्दर काया!

[१०]

मर कर भी ऐसे दिन फिर न कभी आएँगे,
पके शस्य यों ही कितने दिन रह पाएँगे,
ठहरे खेत विजन वन के जिन की छाया में,
अवसर ताक रही है पशुओं की आशाएँ,
थक कर कभी शिथिल लोचन ये मुँद जाएँगे,
यों ही प्राण प्रतीक्षा कब तक कर पाएँगे!

[११]

हाय, आज के फूल न कल तक रह पाएँगे,
नयनों में ही कोमल स्वप्न बिखर जाएँगे,
आज हो रहा है मेरी कुंजों में गुंजन,
और उठेगा कल द्रुम-द्रुम से निष्फल रोदन !
क्या न आज ही वे कर इन को चुन जाएँगे,
हाय ! आज के फूल न कल तक रह पावेंगे ?

[१२]

नदी चली जाएगी यह न कहीं ठहरेगी !
उड़ जाएगी शोभा रोके यह न रुकेगी !
झर जाएँगे फूल हरे पल्लव जीवन के,
पड़ जाएँगे पीत एक दिन शीत मरण से,
रो-रो कर भी फिर न हरी यह शोभा होगी,
नदी चली जाएगी यह न कभी ठहरेगी !

[१३]

अतिथि आज मेरे यौवन का यदि आ जाता,
कितना हो कर तृप्त यहाँ से फिर वह जाता !
कल्प वृक्ष बन कर उस की अगणित इच्छाएँ,
पूरी करता मैं उस की सारी भिक्षाएँ,
मेरे मन में दुःख न हाय ! कुछ भी रह जाता,
इसी रात आने को प्रिय यदि वह कह जाता !

[१४]

मेरे पथ में हँसी किसी की फूल बिछाती,
याद किसी की मुझ को शुचि करने को आती,
उठता जब तूफान गगन में मेघ गरजते,
अंधकार में चिन्ह न पथ के मुझ को मिलते,
मूर्ति किसी की तब हँस-हँस कर आगे आती,
मेरे पथ में हँसी किसी की फूल बिछाती !

[१५]

घर के बाहर भीतर जाती हँसती गाती,
दर्पण के आगे फूलों से केश सजाती,
स्वप्न देखती चिन्ता में निमग्न-सी रहती,
शशि की मूर्ति न जाने कैसी होगी लगती!
वह मानव बन पृथ्वी पर जब रहने आती,
घर के बाहर भीतर जाती हँसती गाती!

[१६]

प्यार मुझे कोई गीली आँखों से करती!
मेरे ही चिन्तन में कोई डूबी रहती,
आती आँगन में बैठी रहती द्वारों पर,
पीली पड़ती ज्योत्स्ना-सी सूनी आहें भर,
छाँह किसी की सदा दृगों में मेरे फिरती,
प्यार मुझे कोई गीली आँखों से करती!

[१७]

नयनों की वह प्रीति सभी अंगों को भाई;
नयनों की वह तन्मयता सब ने अपनाई,
डूबे प्राण उन्हीं मृदु ध्वनियों के गुंजन में,
डूबे अधर उन्हीं मृदु अधरों के चिन्तन में,
वाणी ने उन से मिलने की रटन लगाई,
नयनों की वह प्रीति सभी अंगों को भाई!

[१८]

घुल जाऊँगा मैं ज्योत्स्ना में लघु जुगनू-सा,
टपक पड़ूँगा ओस-बिन्दु-सा किसी गगन का,
उषा-हास में मिल जाऊँगा मैं दीपक सा,
पिघल पड़ूँगा शुचि चरणों में सावन-घन-सा,
छिप जाऊँगा मैं सपना बन किसी नयन का,
टपक पड़ूँगा ओस बिन्दु-सा किसी गगन का!

[१९]

प्रिय लगते हैं काँटे भी अपनी मधु रितु के,
प्रिय लगते हैं दीन वचन अपने वैभव के,
प्रिय लगते अपनी वर्षा के तर्जन गर्जन,
प्रिय अपने फूलों के आतप से पीड़ित तन,
प्रिय लगते आँसू अपनी शशि की पलकों के,
प्रिय लगते हैं काँटे भी अपनी मधु रितु के !

[२०]

मेरे काँटे मिल न सकेंगे क्या कुसुमों से ?
मेरी छाँहें मिल न सकेंगी हरित द्रुमों से ?
मिल न सकेगा शुचि दीपों से घनतम मेरा ?
मेरी रजनी का ही होगा क्या न सवेरा ?
मिथ्या होंगे सभी स्वप्न क्या इन नयनों के ?
मेरे काँटे मिल न सकेंगे क्या कुसुमों से ?

[२१]

आशा की डोरी में जीवन झूल रहा है,
काँटों में यह पीड़ित यौवन फूल रहा है,
आतीं भाँति भाँति की किरणें और हवाएँ,
पड़तीं प्राणों पर सौ-सौ सुन्दर छायाएँ,
हाय, हृदय प्रिय का क्यों इस को भूल रहा है ?
काँटों में यह पीड़ित यौवन फूल रहा है !

[२२]

मैं चुपचाप सुना करता हूँ ध्वनि आशा की,
पीता हूँ शोभा अपनी ही अभिलाषा की,
देखा करता हूँ चुपचाप तटों पर आतीं,
उन लहरों को जो सहसा हँस कर फिर जातीं,
मुझे चाह है सलज प्रेम की मृदु भाषा की,
मैं चुपचाप सुना करता हूँ ध्वनि आशा की !

[२३]

दिन दे जाते मुझ को अपनी करुण प्रभाएँ,
मेरे चारों ओर विचरती हैं संध्याएँ,
थके पंख चलते हैं चारों ओर गगन में,
चारों ओर जगत डूबा है अतल रुदन में,
सदा प्रतीक्षा ही करता मैं सजल दृगों से,
मेरे चारों ओर विचरती हैं संध्याएँ !

[२४]

इस जीवन में कभी न सुख की छाया आई,
इस यौवन ने चाह न वह पूरी कर पाई,
मुझे न कुछ संदेश कहीं से नीरद लाए,
मुझे न हंसों ने सुख के संवाद सुनाए,
मेरी बीती यों ही सुर दुर्लभ तरुणाई,
इस यौवन ने चाह न वह पूरी कर पाई !

[२५]

बीत रहा है धाराओं के नीचे जीवन,
उड़ता है आहों के साथ विकल हो यौवन,
होती जाती क्षीण क्षीण आँखों में आशा,
पड़ती जाती पीली यौवन की अभिलाषा,
काँप रहा आशंकाओं से उर का कण कन,
बीत रहा है धाराओं के नीचे जीवन !

[२६]

मेघों में ज्यों इन्द्र-धनुष की छबि मन मोहन,
इस विषादमय जीवन में ऐसा ही यौवन,
शीत शिशिर में सूरज की सुकुमार तपन सी
प्रिय लगती है किरणें इस सुख कर यौवन के
मेघों की लाली सा यह क्षण भर ही का धन,
इन्द्र धनुष की छाया सा है यह नव यौवन !

[२७]

यौवन के पथ पर जा ऐसे ही मन को
लुटा और आँखों में ले कर के रोदन को,
जो सुख होता धोखा खा कर पछताने में,
जो सुख होता फिर फिर कर धोखा खाने में,
अमर वही सुख तो करता नश्वर जीवन को,
यौवन के पथ पर जा कर ऐसे ही मन को!

[२८]

सपना है सच है सपना है पर सपने में
जो सुख होता वह हो सकता क्या जगने में?
सचमुच है मरीचिका पर कितनी सुन्दर है!
अमर नहीं है पर कितने स्वर्गों की घर है!
इसे देख कर कौन रह सका है अपने में?
सपना है सच है सपना है पर सपने में!

[२९]

प्रेम देव हे! हे वसन्त के कोमल सहचर!
यौवन के हे रम्य देवता! मृदुल मनोहर!
किया न पीड़ित जिस को तुम ने निज बाणों से,
उठी न रोदन की पुकार जिस के प्राणों से,
व्यर्थ हुआ उस का जीवन ही इस पृथ्वी पर,
प्रेम देव हे! हे वसन्त के कोमल सहचर!

[३०]

नाम तुम्हारा ले ले कर आहें भरता हूँ,
इस पृथ्वी पर सजल नयन ले मैं फिरता हूँ,
खोया-सा बैठा रहता नदियों के तट पर,
लहरों के स्वर सुनता तरु-विपिनों के मरमर,
राहों में पथिकों के दल देखा करता हूँ,
नाम तुम्हारा ले ले कर आहें भरता हूँ!

[३१]

तुम प्रकाश हो मुझ में दुःख का तिमिर भरा है !
तुम मधु की शोभा हो, मुझ में कुछ न हरा है !
तुम आशा की वाणी, मैं निराश जीवन हूँ,
तुम हो छटा हँसी की, मैं नीरव रोदन हूँ !
तुम सुख हो, मेरे दुःख का सागर गहरा है,
मुझे मिलो हे तुम में मधुर प्रकाश भरा है !

दूसरी धारा

३२ बजती जीवन के द्वारों पर मृदु शहनाई !
केश उड़ाती बहती सजल पवन पुरवाई !
गाते खग पुलकित हो यौवन की डालों पर,
बरस रहे अम्बर से गरज-गरज कोमल स्वर,
मेरी वधू आज उमड़ी वर्षा-सी आई !
बजती जीवन के द्वारों पर मृदु शहनाई !

[३३]

रो-रो कर वह थकी उसे पलकों पर धर कर,
धीरे-धीरे थाम धरो अपने अधरों पर;
उसे बचाओ किरणों से चिर तृषित पवन से,
उसे बचाओ नीले नभ से शून्य मरण से,
धरो सयत्न छिपा उस को प्राणों के भीतर,
रो-रो कर वह थकी उसे पलकों पर धर कर !

[३४]

छिप रहो पलकों की छाया उस के ऊपर,
बैठे रहो धरे उस को नयनों में भर कर,
उस के चारों ओर घूम कर करुण स्वरों में,
भर कोई स्वर्गीय व्यथा अपने अधरों में,
गाओ हे, पीड़ित लहरों-सी टूट बिखर कर,
छिप रहो पलकों की छाया उस के ऊपर !

[३५]

वह सोती है दूर्वा पर मृदु सेज बिछा कर,
उसे लिटा दो धीरे-धीरे कोमल गा कर,
रह न सकेगी किसी तरह वह अब, पृथ्वी पर,
उड़ जायगी ओस बिन्दु-सी नभ के भीतर,
चली जायगी वह मेरी पलकों से उठ कर,
उसे लिटा दो धीरे-धीरे कोमल गा कर!

[३६]

वह उड़ गई गगन में, मैं डूबा भूतल में,
वह बह गई पवन में, मैं टूटा पद-तल में,
वह भर गई हँसी बन कर शशि के अधरों पर,
मैं सिमटा तम बन कर किसी गुफा के भीतर;
वह बन गई चंचल, हुआ नीरव निश्चल मैं,
वह उड़ गई गगन में, टूटा पद-तल में!

[३७]

मरी आश मेरी मृदु फूलों के लगने से,
मरी कमलनी मेरी आँसू के गिरने से,
ज्यों ही दुःख ने उस पर अपनी दृष्टि झुकाई,
मेरी लाजवती हँसना भूली, मुरझाई!
झरे पत्र मेरे नव पवनों के चलने से,
मरी आश मेरी मृदु फूलों के लगने से!

[३८]

हाय, चाँदनी अब न कभी मुझ को भाएगी,!
मेरे होंठों पर न हँसी फिर कर आएगी!
अब अपनी वातायन खोल गगन में उड़ती
घनी घटा न देखूँगा मैं मधुर रव करती!
मेरे लिए न हाय, कहीं कोकिल गाएगी,
हाय, चाँदनी अब न कहीं मुझ को भाएगी!

[३६ [

आएगा वसन्त पर मैं न हरा अब हूंगा।
गरजेगा सावन, मैं उस के स्वर न सुनूंगा!
होंगे इतने उत्सव इन राहों के ऊपर,
जाएँगी इतना छाँहें सुख से सज धज कर,
होंगे इतने प्रात न मैं कुछ अब देखूंगा,
आएगा सावन मैं उस के स्वर न सुनूंगा!

[४०]

फैला सब के ऊपर वही सुनील गगन है,
छूती सब को वही मृदु मंद पवन है,
चारों ओर वही नदियाँ हैं वही सरोवर,
वही वृक्ष हैं पर भाग्यों में कितना अन्तर!
हँसता है कोई, कोई करता क्रंदन है,
फैला यद्यपि सब के ऊपर वही गगन है!

[४१]

आह, एक दिन कितने निकट सरस वह मुख था!
आह, एक दिन इन प्राणों में कितना सुख था!
खुले द्वार थे स्वर्ग लोक के उसी राह पर
चलता था मैं जो करती जीवन को सुन्दर!
क्रूर काल का चालक तब इतना न विमुख था,
आह एक दिन इन प्राणों में कितना सुख था!

[४२]

पतझड़ में भी लगता था मधु ही हँसता सा,
काँटों का वन भी उर को पुलकित करता-सा,
सुधा पान-सी लगती थी वह प्यास हृदय की,
स्वप्नों से थी भरी-भरी-सी गोदी भय की,
झरता पल्लव भी लगता था हँस उगता सा,
पतझड़ में भी लगता था मधु हो हँसता-सा!

[४३]

हुए अपरिचित, वे चिर परिचित स्थान प्रणय के,
होते अब कुछ और-और ही भाव हृदय के!
टूटे वृक्ष हमारे अब पृथ्वी के ऊपर,
जाने किस की मधुर प्रीति के साथी सुन्दर!
खड़े हुए ये वृक्ष देखते हमें सदय-से,
हुए अपरिचित वे चिर परिचित स्थान प्रणय के!

[४४]

दर्शन ही तो माँगा था मेरी आँखों ने!
एक स्पर्श ही तो माँगा था इन बाँहों ने!
तुम्हें लगा छाती से, सिर आँखों पर धरना,
चाहा था मैं ने उर ही तो तुम को देना!
हाय, सुखी ही होना तो चाहा था मैं ने,
दर्शन ही तो माँगा था मेरी आँखों ने!

[४५]

प्रेम नहीं वह, प्रेम नहीं वह, मेरे दुःख का,
वह तो था उपचार, भाव था वह तो सुख का!
करुणा थी वह मेरे सिरहाने आ कर के,
बहलाया जिस ने मुझ को दो दिन गा कर के!
भूल हुई मैं सहज दया को ऐसे समझा,
प्रेम नहीं वह प्रेम नहीं वह मेरे दुःख का!

[४६]

विजय नहीं थी, वह थी हार बहुत ही भारी!
स्वर्ग नहीं था वह था नरक महा दुःख कारी!
सुख मैं जिसे समझता था वह दारुण दुःख था,
निश्छल सा देखा मैं ने उस छल का मुख था,
प्रकट हो गई अब यथार्थता उस की सारी,
विजय नहीं थी, वह थी हार बहुत ही भारी!

[४७]

कोई और बिताता है मेरे जीवन को!
कोई और लुटाता मेरे संचित धन को!
कोई और कह रहा मेरे वे सुख अपने!
कोई और देखता इन नयनों के सपने!
प्यार और कोई करता मेरी गुंजन को!
कोई और बिताता है मेरे जीवन को!

[४८]

किसी और के लिए फूलते विजन में,
किसी और के लिए उमड़ते मेघ गगन में,
किसी और के लिए राग-रागिनियाँ गाती,
किसी और के लिये चाँदनी हँसती आती!
किसी और के लिए जागते दीप, सदन में,
किसी और के लिए फूलते फूल विजन में!

[४६]

'मेरे भावी जीवन को घन तम से भरता,
मेरे जीवन का नक्षत्र, गगन से झरता!
धूम्र मलीन विपिन से विहगों-से उड़-उड़कर,
गीत-गान जाते मेरे अम्बर को भर-भर;
शून्य मरण मुझ को विपाद स वेष्टित करता,
आज भाग्य मेरा, मेरी आँखों से झरता!

[५०]

डूब रहा है शशि यह बादल टपक रहा है!
मरु देशों में प्यासा निर्झर भटक रहा है!
मरता है यह हंस करुण ध्वनि करता नभ में!
मरती कली दीन भौंरों के व्याकुल रव में!
मेरे कंठ में प्राणों का कण अटक रहा है,
मरु देशों में प्यासा निर्झर भटक रहा है!

[५१]

अपने ही द्वारों के आगे भिक्षुक बन कर,
खड़ा हुआ मैं अपनी आँखों में आँसू भर,
मेरी सुनता हाय, न कोई, दो ही पल में,
मुझे अपरिचित बना दिया नयनों के जल ने!
मुझे देख, कोई न निकलता अब हँस बाहर!
अपने ही द्वारों के आगे भिक्षुक बन कर!

[५२]

दीन-हीन छायाओं में छिप-छिप कर चलता,
परिचित नयनों से अब डरते-डरते मिलता,
बुझा दीप-सा अंधकार में डूबा रहता,
पतझड़ का बन-सा सूनी साँसें भर उड़ता,
यह मेरा जीवन है जिस को मरण न मिलता,
दीन हीन छायाओं में छिप-छिप कर चलता!

[५३]

जिन से नव वसंत फूलों का हास छिपाता,
शशि न जिन्हें अपना पूरा सौन्दर्य दिखाता,
घन विषाद में निशि-दिन डूबी रहने वाली,
विक्षिप्तों-सी पृथ्वी भर में फिरने वाली,
ये मेरी आँखें हैं जिन को कुछ न सुहाता,
जिन से नव वसंत अपना मृदु हास छिपाता!

[५४]

क्षीण पदों से अधरों के द्वारों पर आ कर,
करुण प्रभा से रोदन को पुलकित कर क्षण भर,
होंठों के नीचे दब कर मर जाने वाली,
मलिन चाँदनी-सी दुःख से घिर आने वाली,
यह मेरी स्मिति है थमती जो अब रो-रो कर,
क्षीण पदों से अधरों के द्वारों पर आ कर!

[५५]

नव वसन्त में ही मेरे तरु को झरना था!
मुझ को इस उठते यौवन ही में मरना था!
जब सोये हैं सुख से पृथ्वी के सब प्राणी,
गहन निशा में जब न कहीं भी कोई वाणी,
मुझे शून्य पथ पर तब यों आहें भरना था!
हाय! मुझे इस उठते यौवन में मरना था!

[५६]

आँखों में आँसू छाती में धक-सी जलन,
कहते हैं क्या प्रेम इसी को है मेरे मन?
करता रहता जो अपने ही सुख से क्रन्दन,
कहलाता क्या इस पृथ्वी पर वह ही यौवन?
क्षण भर हँसा गला फिर मिटता जो सपना बन,
कहलाता क्या इस जग में वह ही जीवन!

[५७]

आज चाहता जी सब दिन के बदले रोना!
आज चाहता धैर्य्य विदा प्राणों से होना!
अब न भला लगता ऐसे में आशा करना!
अब न भला लगता इतने दुःख में भी हँसना!
आज चाहते आँसू मेरे प्राण डुबोना!
आज चाहता जी सब दिन के बदले रोना!

[५८]

कहाँ हाय, ले जाऊँ इस टूटे जीवन को!
कहाँ छिपाऊँ उर के इस उजड़े उपवन को!
कैसे थामूं आँखों के अकूल रोदन को!
कैसे हाय, बचाऊँ इस पीड़ित यौवन को!
किस प्रकार समझूं इस निष्ठुर परिवर्तन को,
कहाँ हाय ले जाऊँ इस टूटे जीवन को।

[५६]

उतना सुख जो दे सकता था हा, उस ने ही,
राह न कोई छोड़ी अब जीवन रखने की!
मुझे उठाया पहिले बाँहों में, मुसका कर,
मसला फिर पैरों के नीचे निर्दय बन कर!
आशा अब क्या हा टूटे उर के जुड़ने की,
उतना सुख जो दे सकता था हा उस ने ही!

[६०]

काँटों के किरीट से उस ने मुझे सजाया!
काँटों से उस ने पथ मेरे लिए बनाया!
अंधकार कर दिया हृदय में दीप बुझाए,
आशा को मारा स्वर दुःख से दीन बनाए,
मुझे भाग्य ने जग में सब कुछ को तरसाया
काँटों के किरीट से उस ने मुझे सजाया!

[६१]

सच है टूट गया जो उर वह फिर न जुड़ेगा,
टूट गई जिस की पाँखें वह फिर न उड़ेगा,
डूब गई जो तरणी वह न चलेगी जल में,
उड़ी प्रभा जो वह न मिलेगी फिर अंचल में,
खोया यौवन फिर न जगत में कहीं मिलेगा,
सच है टूट गया जिस का उर वह न बचेगा!

[६२]

तुम प्रिय भाग्य, कहाँ से मुझे कहाँ ले आए!
दृश्य न देखे थे जो वे तुम ने दिखलाए!
अपनी ही आँखों से अपना मरना देखा!
विपुल सिन्धु का अश्रु कणों से भरना देखा!
माँगे मैंने फूल, वज्र तुम ने बरसाये!
तुम प्रिय भाग्य कहाँ से मुझे कहाँ ले आए!

[६३]

सुन्दर थी पृथ्वी मेरा मन भी सुन्दर था,
जिसे चाहता था मैं वह इन बाँहों पर था,
आज झुक गया हूँ मैं टूट गया हूँ दुःख से,
छूटा सुख का साथ, निकलीं आहें मुख से,
मिला वही दुःख मुझको, जिसका मुझको डर था,
सुन्दर थी पृथ्वी मेरा मन भी सुन्दर था।

[६४]

था अदृष्ट में इतना दुःख किस ने जाना था,
हँसी खेल ही जीवन को हम ने माना था,
माना था स्थिर हम ने इन चंचल लहरों को,
माना था स्थिर, जीवन के इन सरस स्वर्गों को,
इस विषाद का रूप न अब तक पहिचाना था,
हँसी खेल ही जीवन को हम ने माना था!

[६५]

हृदय विपुल जग में एकाकी अब रहना है!
आँखों में झरना है, उर में दुःख सहना है!
बीत गए सुख के दिन, बीतीं घड़ियाँ सुख की!
अंधकार में लीन हुई मृदु हँसियाँ मुख की!
शून्य मरण की ओर शोक में अब बहना है,
आँखों में झरना है, उर में दुःख सहना है!

[६६]

हृदय, प्राण से जब चाहा था तब न मिले तुम,
अब रूखा हो गया हृदय, सूखा जीवन-द्रुम,
चाह नहीं है तुम से भी मिलने की मन में,
डूबा हूँ मैं इस अगाध चिर सूनेपन में,
परिचित काँटे हुए, अपरिचित स्नेह के कुसुम,
हृदय, प्राण से जब चाहा था तब न मिले तुम!

[६७]

हटो दूर मेरे प्राणों के पास न आओ !
मैं हूँ दुःखी मुझे मत सुख के गीत सुनाओ,
बहने दो मुझ को अपनी आँखों के जल में,
मुझे पड़ा रहने दो अतल तिमिर के तल में !
मैं क्या था हो गया आज क्या यह न बताओ,
हटो दूर मेरे प्राणों के पास न आओ !

[६८]

रो रो कर भी मिटी न हा, जीवन की आशा,
कभी न छाई इन प्राणों में पूर्ण निराशा,
मृत इच्छाओं में भी सुलग रहा है जीवन,
सजल प्रतीक्षाएँ खोले हैं अब भी लोचन,
पथ में छाया है प्रकाश अब भी धुँधला-सा
रो-रो कर भी मिटी न हा, जीवन की आशा !

[६९]

सजल कान्ति मेघों की फिर छा गई गगन में,
यह कैसी मादकता फिर आ गई पवन में !
यह कैसा उन्माद भरा सरिता के उर में !
यह कैसा आल्हाद भरा विहगों के स्वर में !
यह कैसा विषाद भर आया दीन नयन में !
सजल कान्ति मेघों की फिर छा गई गगन में !

[७०]

दूर-दूर तक फैली मधु रितु की हरियाली,
खेल रही जिस में निश्चिन्त हवा मतवाली,
धीरे-धीरे झूम रहे तरु भरित स्वरों में,
गीत विचरते पत्रों के कंपित अधरों में,
शोभा पी अतृप्त डूबती रवि की लाली,
दूर-दूर तक फैली मधु रितु की हरियाली !

[७१]

मैने सपनों में देखा मै अब न दुःखी हूँ,
मैं जैसे पहले-सा ही हो गया सुखी हूँ;
मैंने देखा झुक कर के मेरी शय्या पर
बोली निठुर नियति भी जैसे पीड़ित हो कर,
'अब मत रोओ तुम्हें बहुत मैं रुला चुकी हूँ"
मैंने सपनों में देखा मैं अब न दुःखी हूं!

[७२]

अब रोने से कठिन हुआ है मुझ को हँसना!
अब मरने से कठिन हुआ है जीवित रहना!
अंधकार लाता न शोक उतना जीवन में,
जितना लातीं नव किरणें मेरे आँगन में!
अब सहने से कठिन हुआ मुझ का कुछ कहना!
अब मरने से कठिन हुआ है जीवित रहना।

[७३]

आओ जीवन पीड़ित तुम को अब न करूँगा,
आओ जीवन सिर आँखों पर तुम्हें धरूँगा,
ले जाऊँगा मैं तुम को मंगल के पथ पर,
शुद्ध बनूँगा, शान्त बनूँगा, अनुगत हो कर,
निज कृत्यों से तुम्हें न मैं अब लज्जा दूँगा,
आओ जीवन, पीड़ित तुम को अब न करूँगा!

[७४]

मैंने देखा फिर मेरे सूने जीवन में,
आई एक किरण मधु ले अपनी चितवन में;
मैंने देखा प्राण भरे मेरे सौरभ से,
मैंने देखा हृदय भरा मेरा कलरव से,
मैंने देखा प्रात हुआ मेरे आँगन में,
मैंने देखी एक किरण अपने जीवन में!

[७५]

मैंने देखा शरद सूर्य्य की किरणें निर्मल,
बिछी हुई थीं पृथ्वी पर; दूर्वा का अंचल—
भरा हुआ था मूल्यहीन निर्मल हीरों से;
मैंने देखा सजल हवाएँ सरि तीरों से,
उमड़ कर रहीं थीं पकते धानों को चंचल,
मैंने देखा शरद सूर्य्य की किरणें निर्मल !

[७६]

चला जा रहा था उत्तर की ओर मुदित हो,
मैं अपने जीवन की लक्ष्मी से मिलने को;
चला जा रहा था उत्तर की ओर मनोहर—
शिखर खड़े हैं जहाँ हिमालय के, पृथ्वी पर,
गीत सुनाते हैं जिन को किन्नर पुलकित हो,
चला जा रहा था मैं उसी ओर प्रमुदित हो !

[७७]

मुझे दूर से दीख पड़ा शुचि भवन तुम्हारा,
दीख पड़ी आँगन में मुझ को जल-धारा,
दीख पड़े मुझ को वे विटप तुम्हारे घर को—
घेर खड़े रहते हैं पृथ्वी पर निःस्वर जो,
दीख पड़ा मुझ को मुख सरस तुम्हारा प्यारा,
दीख पड़ी मुझ को कल-कल करती जल-धारा !

[७८]

द्वार खोल कर आँगन में जैसे तुम आईं,
मुख पर आँचल लगा मधुर जैसे मुसकाईं,
रख कर हाथ मृदुल फिर अपने निर्मल उर पर,
तुम ने जैसे मेरा नाम लिया आहें भर,
और मुझे आँखों में आँसू पड़े दिखाई,
द्वार खोल कर आँगन में जैसे तुम आईं !

[७६]

मिला स्नेह मुझ को 'जब मधुर तुम्हारे मुख से,
बैठे रहे हरे वृक्षों के नीचे सुख से,
बाँहों पर बाँहें धर मेरे उर से लग कर,
हँसती रही चाँदनी सी निर्मल तुम दिन भर।
छूट गया मैं जैसे जन्म जन्म के दुख से,
मिला स्नेह मुझ को जब मधुर तुम्हारे मुख से।

[८०]

मिले उसी तरु के नीचे मुझ को रहने को
जिस में आती हो कोकिल निशि दिन रोने को,
जहाँ सदा, पुतली में भरी हुई रहती हो,
रस की बदली विरह व्यथा को जा कहती हो,
जहाँ बिछी दूर्वा हो जी भर कर रोने को,
मिले उसी तरु क नीचे मुझ को रहने को।

[८१]

म जाता हू सपनों में फिर उस प्रिय वन में,
जहाँ मिला थी मुझ का वह हँसती बचपन में,
जिन कुजों में अचल बिछा विमल लाचन भर,
पढती थी वह कोई कथा विरह की सुन्दर,
उन कुजों को देख व्यथा होती अब मन में,
मैं जाता हूँ सपनों में फिर उस प्रिय वन में!

[८२]

उसी विपिन में खड़ी हुई वह वधू किसी की,
देख रही चुपचाप सुवर्णमयी प्रतिमा सी,
कुसुम वनों स उठती रवि की अन्तिम किरणें,
अब निष्प्रभ रवि बिम्ब लगा अम्बर स गिरने,
सुन पड़ती है दूर गीत ध्वनि मधुर किसी की,
उसी विपिन में खड़ी हुई वह वधू किसी की!

[८३]

दुःखी हृदय की मधुर कल्पना यों ही मन को,
भटकाती रहती सुख के वन में निर्मम हो,
दिखलाती मुझ को उस खोये सुख के सपने,
हो न सके जो मेरे इस जीवन के अपने,
नष्ट कर गये जो मेरे सुन्दर जीवन को,
दुःखी हृदय की मधुर कल्पना यों ही मन को !

[८४]

मैं न भला था पर वह जीवन बीत गया है,
तब से मैं ने कितना सीखा और सहा है !
गर्व भर गया मेरा अब आँखों के भीतर,
आया हूँ मैं रोदन के समुद्र को ले कर,
मेरा जीवन देख तुम्हारी ओर जिया है,
मैं न भला था पर वह जीवन बीत गया है !

[८५]

क्षमा न कर सकते क्या तुम मेरे पापों को ?
लौटा आज न सकते क्या अपने शापों को ?
पड़ा हुआ हूँ घोर नरक में मैं पशु बन कर,
विकट अग्नि से जलता है धू-धू उर अन्तर !
दूर न कर सकते क्या तुम मेरे तापों को ?
लौटा आज न सकते क्या अपने शापों को ?

[८६]

विपुल सिन्धु जिस के विषाद का पार नहीं है,
जहाँ डूब फिर जीवन का उद्धार नहीं है,
स्नेह नहीं, कल्पना नहीं है, हास नहीं है,
जहाँ तिमिर में रवि-शशि का मृदु भास नहीं है,
मुख में तुलसी, गंगा-जल की धार नहीं है,
यह विषाद जिस की लहरों का पार नहीं है !

[८७]

आँखों में रहता है, छाती में जलता है,
यह विषाद का वट मेरे भीतर पलता है!
पाट दिया पत्रों से उस ने आज गगन को,
अब कैसे मुझ को अपनी शशि के दर्शन हों,
कैसे पाऊँ त्राण ? न कुछ भी वश चलता है!
यह विषाद का वट मेरे भीतर पलता है!

[८८]

सुख न हँसा सकता है, दुःख न रुला सकता है,
उस स्नेह जीवन में अब न बुला सकता है,
दूर विश्व में एक वृक्ष के नीचे निःस्वर,
पड़ा हुआ है वह जीवन जीने से थक कर,
व्यथित दृष्टि यह जिसे न रूप भुला सकता है!
यह दुःख जिस की थाह न कोई पा सकता है!

[८९]

इतने दिन हो गये, भाग्य पर फिरा न मेरा!
इतने दिन हो गये, उठा न दुःखों का घेरा,
अधरों से उड़ कर मुसकान न फिरने पाई,
वह सुन्दरता फिर न विश्व में पड़ी दिखाई!
मेरी आँखों में अब है भर गया अँधेरा,
इतने दिन हो गये, भाग्य पर फिरा न मेरा!

[९०]

मुझे शक्ति दो स्वामी इतना दुःख सहने की!
मुझे शक्ति दो इतना विष पी बच रहने की!
मुझे ज्ञात है मुझे कभी अब सुख न मिलेगा,
मुझे ज्ञात है मेरा मुरझा उर न खिलेगा,
मुझे शक्ति दो अब केवल स्थिर हो रहने की,
मुझे शक्ति दो इतना विष पी बच रहने की!

[६१]

मेरे पाप भुला दो करुणामय निज मन से,
आओ देखो दुःख में डूबे हुए नयन ये !
यदि न अभी भी यह उर सुन्दर स्वच्छ हुआ हो,
तो दुःख में ही रहने देना कुछ दिन मुझ को;
हो यदि स्वच्छ लगाना उर से और नयन से,
मेरे पाप भुला दे करुणामय निज मन से !

तीसरी धारा

६२ सुख ने मुझ को लहरों के ही बीच भुलाया,
सुख ने मुझ को हलका-सा ही राग सुनाया,
दुःख ले गया मुझे गहरे सागर के जल में,
हँसते उज्ज्वल मोती जहाँ तिमिर के तल में,
दुःख ने ही मुझ को प्रकाश का देश दिखाया,
सुख ने मुझ को हलका-सा ही राग सुनाया।

[६३]

सुख बन कर आते हैं सदा सुकृत ही अपने,
दुख बन कर पीड़ित करते दुष्कृत ही अपने;
परम सत्य है यह संसार जहाँ माथे पर,
गिरते हैं अपने ही पाप सदा गर्जन कर;
शुचि करते जीवन को अपने ही शुचि सपने,
सुख बन कर आते हैं सदा सुकृत ही अपने !

[६४]

हँसी बुलाई जिस ने, श्वेत पंख फैलाए,
उस के पास हँसी आई, उस ने सुख पाए,
और किया जिस ने निशि-दिन शोकों का चिन्तन,
उस के पास शोक आए, आया कटु रोदन,
पाए सुख-दुःख जिस ने जो तन्मय हो चाहे,
हँसी बुलाई जिस ने, श्वेत पंख फैलाए !

[९५]

हृदय, वासना-छवि ही तो तुम ने चाही थी !
हृदय, वासना पानी ही तुम को भाई थी !
नारी को तुम ने अपनी बाँहों में चाहा,
पूजा की उस की, उस को बहु भाँति सराहा !
विष को अमृत समझने में क्या चतुराई थी ?
हृदय, वासना ही तो नित तुम ने चाही थी ?

[९६]

मिली वासना नहीं, मिले छाती पर व्रण ये,
तुम ने सोचा व्यर्थ हुए यौवन के क्षण ये,
तुम रोए तुम ने अपने को दुखिया माना,
दुःख में प्रभु की इच्छा को न कभी पहिचाना,
रोते-रोते क्षीण कर दिये स्वर जीवन के,
तुम ने सोचा व्यर्थ हुए जीवन के क्षण ये ?

[९७]

खुली आँख जब, ईश्वर के चरणों में आए,
रूप और आनंद ज्ञान तब तुम ने पाए;
देखी लौकिक रूपों की व्यर्थता हृदय में,
देखा उस को जो रहता स्थिर वस्तु प्रलय में,
आँसू भर दृग में गुण तुम ने उस के गाए,
खुली आँख जब, ईश्वर के चरणों में आए !

[९८]

दीन न समझो मन अपने को दीन न समझो,
तुम हो पूर्णकाम अपने को हीन न समझो,
करो न चिन्ता यह है प्रभु को कोपित करती,
धीर धरो, धीरता सभी संकट है हरती,
यत्न करो जीवन को भाग्याधीन न समझो,
दीन न समझो मन अपने को दीन न समझो !

[९९]

निरुत्साह होना इस जग में पाप महा है,
सदा कर्म करना, लड़ना ही श्रेय यहाँ है;
यहाँ अमृत है आशा, विष है विषम निराशा,
देती महा सफलता है साहस की भाषा,
लड़ो वीर का सदा सहायक भाग्य रहा है,
निरुत्साह होना इस जग में पाप महा है!

[१००]

मैं न निकालूँगा अब, निराश वाणी मुख से,
मैं न डरूँगा अब, विपरीत भाग्य के दुःख से;
प्रभो! सीख लेता जो करना भक्ति तुम्हारी,
उसे सदा आशा देती है शक्ति तुम्हारी,
रहता है वह सदा तुम्हारे जग में सुख से,
वह न कभी डरता विपरीत भाग्य के दुःख से!

[१०१]

कभी सोचता हूँ मैं व्यर्थ हुआ जीवन है,
और कभी सुख से भर जाता मेरा मन है,
जटिल पहेली यह न समझने में कुछ आई,
किस ने मृत्यु बनाई, किस ने व्यथा बनाई,
और बनाई किस ने स्मिति की शीत किरण है?
कभी सोचता हूँ मैं व्यर्थ हुआ जीवन है!

[१०२]

विष-वल्ली से अमृत फलों की आश करूँ क्यों?
जो न भाग्य में है मैं उस के लिए मरूँ क्यों?
होना था ऐसा ही इसीलिए तो ऐसा—
हुआ, हो सका नहीं मुझे रुचिकर था जैसा,
चला गया वह मैं आँसू से आँख भरूँ क्यों?
जो न भाग्य में है मैं उस के लिए मरूँ क्यों?

[१०३]

कर्म तुच्छ मैं जिस समझता था वह तो था,
भाग्य देवता, निर्णायक मेरे जीवन का,
बीज व्यर्थ कह मैंने जो पथ में छितराए,
आज उन्हीं के फल मैंने चखने को पाए,
ठुकराया मैंने अमोल हीरा, कंकड़ सा,
कर्म तुच्छ मैं जिसे समझता था, वह तो था!

[१०४]

करता हूँ स्वीकार प्रभो मैं न्याय तुम्हारा,
करता हूँ स्वीकार बेड़ियाँ ये, यह कारा,
आज हो गया शनै शनै यह दुख भी धीमा,
एक दिवस जिस की पीड़ा थी तोड़ए असीमा,
हुआ भला ही मेरा इन कष्टों के द्वारा,
करता हूँ स्वीकार प्रभो मैं न्याय तुम्हारा!

[१०५]

इतने जन्मों के पश्चात शरण में आया,
प्रभो! दूर रह कर मैंने कितना दुख पाया!
नास्तिक कहलाने में जब होता गौरव था,
पाप पुण्य का क्या विचार हो सकता तब था!
पूजा पाप, पुण्य मैंने सदैव ठुकराया,
इतने जन्मों के पश्चात शरण में आया!

[१०६]

यहीं रहूँगा चरण शरण में अब जीवन भर,
पाप मिटाऊँगा आँसू की धार बहा कर,
अगणित पाप एक दिन सह जब मिट जायेंगे,
मेरे प्राण शान्ति से तुम में मिल पाएँगे,
मिट जाऊँगा शान्त लहर सा मैं सागर भर,
यहीं रहूँगा चरण-शरण में अब जीवन भर!

[१०७]

अहं भाव था जब तक तब तक कितना दुःख था!
अंत नहीं है आज विश्व में मेरे सुख का!
सब से नीचे लेटा हूँ, सब का स्नेही हूँ,
गेह हीन हो हुआ आज सच्चा गेही हूँ;
पथ में फिरता भिक्षुक मैं करुणा के मुख का,
अन्त नहीं है आज विश्व में मेरे सुख का!

[१०८]

तृष्णा छोड़ घूमता हूँ मैं जीवन-वन में,
सुनता हूँ ईश्वर का नाम पवित्र पवन में;
चाह नहीं है असफलता का शोक नहीं है,
मैं आनंद मग्न हूँ सुख से पूर्ण मही है;
उड़ता है मन शरद मेघ-सा शुभ्र गगन में,
तृष्णा छोड़ घूमता हूँ मैं जीवन-वन में!

[१०९]

चाह नहीं है अब मेरा जीवन शीतल है,
द्वेष नहीं है अब यह उर हो गया सरल है;
गई वासना, गया वासनामय यौवन भी,
मिटे मेघ, मिट गया आज उन का गर्जन भी,
मैं निर्बल हूँ पर मुझ को ईश्वर का बल है,
चाह नहीं है अब मेरा जीवन शीतल है!

[११०]

सभी दिशाएँ मित्र, शत्रु है आज न कोई,
पाप नहीं प्राणों में मेरे लाज न कोई;
कोई क्या सोचता न कुछ चिन्ता है इस की,
वस्तु नहीं ऐसी मुझे चाह हो कुछ जिस की;
वसन गेरुआ इस से अच्छा साज न कोई,
सभी दिशाएँ मित्र, शत्रु है आज न कोई!

[१११]

मेरे मित्र दया कुछ मुझ पर कर जाते हैं,
और शत्रु मुझ को सकष्ट लख मुसकाते हैं;
पहले मैं मित्रों से स्नेह किया करता था,
और शत्रुओं को नित शाप दिया करता था,
किन्तु मुझे अब सभी एक से दिखलाते हैं,
सब का हो कल्याण मुझे अब सब भाते हैं!

[११२]

बीत गई वर्षा अब स्वच्छ विमुक्त गगन है,
सिर के ऊपर अब न वज्र करता गर्जन है;
छोड़ दिया अब घिरी दिशाओं ने नित रोना,
उज्ज्वल खिलता धुली हुई पृथ्वी का कोना,
बीत गया अब उमड़ी सरिता का यौवन,
सिर के ऊपर अब न वज्र करता गर्जन है!

[११३]

लौट शरद की रितु आई फिर इस जीवन में,
हँसे चन्द्र-तारे मेघों से मुक्त गगन में;
स्वच्छ हुए जल सरिताओं के, स्वच्छ सरोवर,
भरीं मोतियों से दूर्वा की पलकें सुन्दर!
फैल गई नभ की स्मिति पृथ्वी के कण-कन में,
लौट शरद की रितु आई फिर इस जीवन में!

[११४]

चले गये बादल अब फिर से चमके तारे,
नील गगन में उठे शिखर हिमगिर के प्यारे!
स्वच्छ हो गई पवन, निर्मल हुईं सरितायें,
धानों से पीत हो गईं सब ओर दिशायें;
शरद देख लौटे प्रमोद पृथ्वी के सारे,
चले गये बादल अब फिर से चमके तारे!

[११५]

कास हँस पड़े शरद माधुरी वन में छाई,
रजनी गंधा की सुषमा उर में न समाई;
उड़े पवन में उज्ज्वल राजहंस फल भाषी,
गिरि-वन में कूजे चकोर शशि-रूप-विलासी;
स्वच्छ गगन मे हँस-हँस कर शशि वदनी छाई,
कास हँस पड़े शरद माधुरी वन में छाई!

[११६]

चारों ओर दूर तक फैले वन कासों के,
आते ज्वार धरा पर ज्योत्स्ना के हासों के;
हुए असुन्दर भी सुन्दर, मिल कर सुन्दर से,
हुआ तिमिर भी उज्ज्वल लग कर शशि के उर से;
मुँदे नयन, स्वर उठते केवल उच्छ्वासों के,
चारों ओर दूर तक फैले वन कासों के!

[११७]

भीतर बाहर सभी ओर उज्ज्वलता छाई,
सभी ओर देता विशुद्ध आनंद दिखाई!
पूर्ण शान्ति जिस को भंग न करते विग्रह-स्वर,
मैं जैसे हो गया आज आनंद से अमर;
मैंने जैसे आज मुक्ति जीवन में पाई;
मेरे भीतर बाहर शान्त ज्योति है छाई!

[११८]

प्यारे गीत, बहुत दिन रहे साथ हम जग में,
रोते-गाते हुए बढ़े हम जीवन-मग में;
आज समाप्ति हुई पथ की अब मुझे विदा दे,
लौटो तुम, जाने दो दूर मुझे जीवन से;
रह अभिन्न होता हूँ तुम से आज विलग मैं,
मेरे गीत बहुत दिन रहे साथ हम जग में!

[११६

तुम इस पथ से लौट पुनः पृथ्वी में आओ,
तुम जग के अधरों पर मेरे स्वर ले जाओ;
मैं जाता हूँ ईश्वर की प्रशान्ति पाने को,
तुम लौटो पृथ्वी पर सुख पूर्वक गाने को;
तुम गाओ जग को रहने के योग्य बनाओ,
तुम सब के अधरों पर मेरे स्वर ले जाओ!

[१२०]

पापी को तुम पुनः पुण्य पथ पर लौटाना,
तुम नास्तिक को दृढ़ आस्तिक, दृढ़ भक्त बनाना,
देना दुखिया को धीरज, निराश को आशा,
करना वितरित पृथ्वी पर सुख की शुचि भाषा,
पतनोन्मुख जीवन को तुम दे बाँह बचाना,
तुम नास्तिक को दृढ़ आस्तिक दृढ़ भक्त बनाना!

[१२१]

करुणाएँ वह फैलाना, उर को स्वच्छ करे जो,
प्रणय गीत वह गाना उर के कलुष हरे जो;
पापी को जो पुन पुण्य पथ पर लौटावे,
जो जीवन दे जीवन से अनुराग जगावे;
चिर निराश उर में आशा का दीप धरे जो,
प्रणय गीत वह गाना उर के कलुष हरे जो!

[१२२]

युग युग तक सुख पूर्वक तुम संसृति में रहना,
तुम सब से मेरे सुख-दुःख की वार्ता कहना;
ऊँच नीच सब के द्वारों पर जा कर गाना,
सब को एक समझना तुम सब को अपनाना;
निन्दा-स्तुति सब की तुम वीत-राग हो सहना,
मेरे अमर रूप युग-युग तक जग में रहना!

[१२३]

शुभ हों पंथ, दूर हो जाएँ सब बाधाएँ,
अशुभ शब्द कानों में नहीं कहीं से आएँ;
स्वागत करें अर्घ्य लेकर जग में सब तेरा,
तू आए बन कर जगती में स्वर्ण सवेरा;
तू सब को भाए, जग में सब तुझ को भाएँ,
शुभ हों पंथ दूर हो जाएँ सब बाधाएँ!

[१२४]

शान्ति! शान्ति! सब के जीवन में शान्ति व्याप्त हो!
शान्ति! शान्ति! सब को जीवन में शान्ति प्राप्त हो!
दुःखी न कोई रहे कहीं पृथ्वी के ऊपर,
विपुल शान्ति से हों प्रपूर्ण सब के उर अन्तर!
विपुल शान्ति में गीत-कथा मेरी समाप्त हो,
शान्ति! शान्ति! सब को जीवन में शान्ति प्राप्त हो!!